ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।
उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम अपनी अंतरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

संस्थापक-संरक्षक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
एवं
शक्तिस्वरूपा माता
भगवती देवी शर्मा
संपादक
डॉ० प्रणव पण्ड्या
कार्यालय
अखण्ड ज्योति संस्थान
घीयामंडी, मथुरा

दूरभाष नं०(०५६५) २४०३९४०
२४००८६५
२४०२५७४
मोबाइल नं० ९९२७०८६२९१
फैक्स नं० (०५६५) २४१२२७३
ईमेल- ajsansthan@awgp.org
समय- प्रातः ९ से सायं ५ तक

वर्ष	:	७८
अंक	:	२
फरवरी	:	२०१४
माघ-फाल्गुन	:	२०७०
प्रकाशन तिथि	:	१.१.२०१४
वार्षिक चंदा		
भारत में	:	१२०/-
विदेश में	:	१२००/-
आजीवन	:	२४००/-
(सुरक्षा निधि)		

वसंत

वसंत आ गया है। इसमें उमंग है, रंग है, स्वर है, सुगंध है। उमंग समूची प्रकृति में है। रंग फूलों में है, स्वर कोयल की कूजन में है और सुगंध आम्र की मंजरी व पेड़-पौधों की डालियों पर इठलाते-खिलखिलाते पुष्प मिलकर बिखेर रहे हैं। इन सबको अपने साथ लेकर वसंत ने छवि-छटा बिखेरी है, बहार व बयार बहायी है; फिर भी न जाने क्यों अभी तक धरती में धुआँ छाया है, गगन में कुहासा है और मानव मन उदास है। संभवतः इसलिए, क्योंकि अंतःप्रकृति की ऊर्जा अभी भी कहीं अवरुद्ध है। अभी तक वहाँ वसंत का आगमन नहीं हो सका है। बलिदान की उमंग, तप के चटख रंग, विवेक के स्वर व वैराग्य की सुगंध, नहीं प्रसारित हो सकी है।

जब तक ऐसा न हो पाएगा, वसंत पूर्ण न होगा। एक अधूरापन, एक अपूर्णता समूचे वातावरण को विषाक्त व विषादग्रस्त बनाए रखेगी। रक्त के छींटे यों ही उड़ते रहेंगे; प्रकृति यों ही रूठी रहेगी। आचरण के दोष, विचारों के विकार हममें से किसी को भी वसंत की बहार व बयार में आनंदित न होने देंगे। आदिकाल से, प्राचीन युग से कवि गीत गाते रहे हैं—वसंत के। ये गीत अनुराग के हैं, प्रेम के हैं, पर अब अनुराग न जाने कहाँ खो गया है, प्रेम न जाने क्यों और कहाँ विलीन हो गया है। शायद यह हम सबकी जीवनशैली का विकार है। हम सबके आपसी रिश्तों में आई हुई दरार है। तभी तो हम सभी की सामूहिक रूप से खुशियाँ खो-सी गई हैं।

वसंत तो आया है—हमें हमारी खुशियाँ लौटाने, पर इन्हें लेना तो हमें ही है। इन्हें पाने की पात्रता तो हमको ही पूरी करनी है। बाह्यप्रकृति के साथ अंतःप्रकृति को हमें ही संतुलित व संपूर्ण करना है। कैसे ? अपनी जीवनशैली के दोष मिटाकर। स्वार्थ नहीं स्नेह, घृणा नहीं प्रेम, विद्वेष नहीं अनुराग, जीवननाशी रक्तपात नहीं जीवनदायी रक्तदान। ऐसा तब होगा, जब हमारी अंतःप्रकृति में बलिदान की उमंग होगी, जब हमारी जीवन शैली में तप के चटख रंग होंगे, विचारों में विवेक के स्वर फूटेंगे और कर्मठ कर्मशीलता में वैराग्य की सुगंध प्रसारित होगी। हाँ! तभी जीवन मधुमय होगा, रूठी हुई प्रकृति हँस पड़ेगी व पूर्ण होगी। साथ ही वसंत का आगमन सार्थक होगा। हम सबकी खोई खुशियाँ एक साथ लौट सकेंगी।

विषय सूची

- वसंत ३
- **विशिष्ट सामयिक चिंतन**
  दिव्य कक्षा से प्रकाश के अवतरण का वसंत ५
- विकास के मार्ग में अवरोध है अहंकार ८
- धर्मनिष्ठ राजा का न्याय १०
- कहानियों से करें बच्चों का विकास १२
- **पर्व विशेष (महाशिवरात्रि)**
  महाशिवरात्रि का महापर्व १४
- भय से भयभीत न हों १६
- लोभ का दुष्परिणाम १८
- शाश्वत संपदा है तप व पुण्य २०
- कवियों का वसंत २२
- **आदिशक्ति की लीलाकथा—८२**
  महामाया को उन्मुख होकर
  मौन, एकाग्र व एकांत होना ही तप है २६
- इस तृष्णा का कोई अंत नहीं २९
- बेटे और बेटी में भेदभाव कैसा ३१
- गुरु अनुशासन का पर्व है वसंत ३३
- श्रेष्ठतम कर्म है कर्त्तव्य ३५
- ईसा का गिरि प्रवचन ३८
- **ब्रह्मवर्चस-देव संस्कृति शोध सार—५८**
  परमपूज्य गुरुदेव का आध्यात्मिक मानवतावाद ३९
- **अंतर्जगत की यात्रा का ज्ञान-विज्ञान—३**
  सूर्य पर संयम करने से.
  होता है समस्त लोकों का ज्ञान ४३
- **श्रीराम भक्ति की साधना—७६**
  महर्षि मतंग की कार्य-योजना ४५
- **युगगीता—१६५**
  सृष्टि का उद्गम भी वही हैं
  और विध्वंस भी वही ४७
- **चेतना की शिखर यात्रा—१३७**
  गुरुर्देवो महेश्वरः ५१
- **परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी—१**
  गायत्री परिवार का उद्देश्य—
  पीड़ा और पतन का निवारण ५३
- **विश्वविद्यालय परिसर से—१०४**
  विश्वविद्यालय में उत्साह व उमंग
  का वातावरण
  यूरोप के विभिन्न विश्वविद्यालयों के
  साथ हुए समझौते ५९
- **अपनों से अपनी बात**
  अपने परिवार की विशिष्ट आत्माओं से
  विशेष अनुरोध ६१
- 'वासंती निर्माण' (कविता) ६६

आवरण पृष्ठ परिचय

हिमशिखरों में फैली वासंती सुषमा के मध्य हमारे गुरुदेव

फरवरी-मार्च, २०१४ के पर्व-त्योहार

मंगलवार	०४ फरवरी	वसंत पंचमी	गुरुवार	०६ मार्च	सूर्य षष्ठी
बुधवार	०५ फरवरी	सूर्य षष्ठी	शनिवार	०८ मार्च	होलाष्टक
सोमवार	१० फरवरी	जया एकादशी	बुधवार	१२ मार्च	एकादशी व्रत
शुक्रवार	१४ फरवरी	संत रविदास जयंती/पूर्णिमा	रविवार	१६ मार्च	होलिका दहन/पूर्णिमा व्रत
सोमवार	२४ फरवरी	समर्थ गुरु रामदास जयंती	सोमवार	१७ मार्च	होली/धूलिवंदन
मंगलवार	२५ फरवरी	विजया एकादशी (स्मा०)	गुरुवार	२७ मार्च	पापमोचनी एकादशी
गुरुवार	२७ फरवरी	महाशिवरात्रि	सोमवार	३१ मार्च	नवरात्रारंभ/
सोमवार	०३ मार्च	श्रीरामकृष्ण परमहंस जयंती			नवसंवत्सरारंभ

★ **यह पत्रिका आप स्वयं पढ़ें तथा औरों को पढ़ाएँ। कुछ समय के बाद किसी अन्य पात्र को दे दें, ताकि ज्ञान का आलोक जन-जन तक फैलता रहे। - संपादक**

विशिष्ट सामयिक चिंतन

दिव्य कक्षा से प्रकाश के अवतरण का वसंत

वर्ष, २०१४ का आध्यात्मिक विश्लेषण

वर्ष, २०१४ का आध्यात्मिक विश्लेषण—हाँ, ठीक पढ़ा और सही सुना। यही विषय है, इस माह के विशिष्ट सामयिक चिंतन का। विश्लेषण तो ठीक है, अलग-अलग विषयों पर, अलग-अलग बिंदुओं पर विश्लेषण किए जाते रहे हैं। इनके निष्कर्षों पर चर्चा, विमर्श व विचार भी किया जाता रहा है। कई उदाहरण हैं—वार्षिक विश्लेषण के, जैसे कि ज्योतिषीय विश्लेषण, राजनीतिक-चुनावी विश्लेषण, आर्थिक विश्लेषण, मौसम का विश्लेषण। इनमें से प्रत्येक के विश्लेषण का अपना बौद्धिक आधार है। इन पर तर्क किए जाते हैं, बहस साझा की जाती है। जब ज्योतिषीय विश्लेषण किया जाता है तो गणना का आधार ग्रहों की स्थिति, उनकी मार्गी या वक्री चाल होती है। इस क्रम में नक्षत्रों की स्थिति व प्रभाव का भी विश्लेषण किया जाता है।

राजनीति व चुनावी विश्लेषण का आधार बनता है, पार्टियों व उनके उम्मीदवारों का जनाधार, साथ ही स्थानीय, प्रांतीय व राष्ट्रीय समीकरण। आर्थिक विश्लेषण के भी कई कारक होते हैं—शेयर मार्केट, बाजारों की स्थिति, राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय स्थिति की आवक-जावक। मौसम का विश्लेषण प्रकृति के पंचतत्त्वों व पर्यावरण को आधार बनाकर होता है।

इनमें से प्रत्येक के अपने तर्क हैं और बौद्धिक आधार भी हैं। ऐसे में आध्यात्मिक विश्लेषण का आधार क्या है? तो उत्तर में यही कहेंगे कि आध्यात्मिक विश्लेषण का आधार है—आध्यात्मिक दृष्टि। जिसके लिए महात्मा कबीर ने कहा है—**'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी।'** इस दृष्टि से देखा जा सकता है, परिस्थितियों में घटित होने वाले घटनाक्रमों के कारणों को। घटनाक्रमों के पीछे सकारात्मक अथवा नकारात्मक शक्तियों को। इन दैवी या आसुरी शक्तियों को आध्यात्मिक दृष्टि से न केवल देखा और जाना जा सकता है, बल्कि प्रचंड आध्यात्मिक ऊर्जा से इन्हें नियोजित व नियंत्रित भी किया जा सकता है। प्राचीन भारत के ऋषि, आचार्य व संत-परंपरा में परमपूज्य गुरुदेव का व्यक्तित्व ऐसा अलौकिक था, जिसमें प्राचीन भारत के ऋषि, आचार्य व संत का समावेशित स्वरूप झलकता था। समय-समय पर उन्होंने अपनी आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत कुछ देखा था और कहा था अपनी अंतरंग वार्ताओं में। उनकी वाणी व वार्ताएँ ही इस आध्यात्मिक विश्लेषण का सम्यक आधार हैं।

परमपूज्य गुरुदेव के साथ का वह वसंत

सन् २०१४ का यह वसंत कई अर्थों में महत्त्वपूर्ण है। परिजन भूले न होंगे कि परमपूज्य गुरुदेव ने सन् १९९० की वसंत पंचमी को अपने गायत्री परिवार के सदस्यों से अंतिम भेंट—मुलाकात के पश्चात एकांत ले लिया था, इसकी चर्चा वे १९८९ के सितंबर महीने से ही करने लगे थे। इस महीने व उसके बाद के महीनों में उनके शरीर में विचित्र से परिवर्तन आने लगे थे। कभी-कभी उनके शरीर की तेजस्विता अतिशय बढ़ जाती और कभी-कभी वह सामान्य-सा लगने लगता। इसी क्रम में यदा-कदा उनका शरीर बहुत कड़ा हो जाता तो फिर थोड़ी देर बाद ठीक हो जाता। ऐसे और बहुत सारे परिवर्तन थे, जिनकी तार्किक व्याख्या तो संभव नहीं, पर देखने वालों को ये अतिविस्मयकारी अवश्य लगते थे। एक बार जब उनसे उनके एक शिष्य ने इस बारे में पूछा—"गुरुदेव! आपके साथ यह सब क्या हो जाता है?" तो उन्होंने कहा—"बेटा! मैं एक अति विशेष साधना कर रहा हूँ।"

उनकी इस बात को सुनने वाले ने समझा कि साधना तो गुरुदेव का स्वभाव है। इस बार वे कुछ नया करने वाले होंगे, लेकिन उन्होंने स्वयं ही थोड़ी देर बाद कहा—"मैं अपनी चेतना को धीरे-धीरे इस शरीर से मुक्त कर रहा हूँ। बस, एक पतली-सी डोर जोड़कर रखूँगा। उसे भी किसी दिन तोड़ दूँगा।" बात ठीक-ठीक समझ में नहीं आई। जिसे समझाते हुए उन्होंने कहा—"अगर इस प्रक्रिया के बिना शरीर छोड़ना होगा तो शरीर छोड़ने के बाद भी सप्ताहों और हो सकता है इसमें महीनों लग

जाएँ, शरीर से प्रकाश निकलने का क्रम जारी रहेगा, जैसा कि महर्षि अरविंद के साथ हुआ था। उनके शरीर छोड़ने के बाद भी तीन दिन तक लगातार उनका शरीर प्रकाशित रहा। ऐसी स्थिति में नाहक लोग चर्चा करेंगे, तमाशा बनेगा, इसीलिए यह प्रक्रिया पूरी की जा रही है, ताकि कोई बेवजह चर्चा या तमाशा न हो।''

''तब फिर साधना कैसी?'' यह पूछने पर उन्होंने कहा—''इस बार की संपूर्ण साधना स्थूलशरीर से नहीं, सूक्ष्मशरीर से होगी। इसकी कक्षा भी धरती से ऊपर होगी। इसका आरंभ इसी १९९० के वसंत से हो जाएगा। कुछ समय तक पृष्ठभूमि का निर्माण व तैयारी, बाद में पूर्णतया सूक्ष्मशरीर से विशिष्ट साधना आरंभ।'' पूछने पर उन्होंने कहा—''यह अवधि भी २४ वर्ष की होगी। इन चौबीस वर्षों में पुराने खंडहर टूटेंगे व नवसृजन की तैयारी आरंभ हो सकेगी।''

पूज्य गुरुदेव की सूक्ष्मसाधना के २४ वर्ष

सन् १९९० से सन् २०१४ का वसंत सचमुच देखो तो २४ वर्ष पूर्ण हुए। उन्होंने कहा था—''इन चौबीस वर्षों में चौबीस पुरश्चरण तो नहीं किए जाने, फिर भी बहुत कुछ विशेष किया जाना शेष है। इन चौबीस वर्षों के बाद एक नए क्रम का आरंभ होगा।'' जहाँ तक बात इस चौबीस साल की अवधि की है तो यह अवधि तोड़-फोड़ की थी। इस कार्य के लिए बात जहाँ तक प्रत्यक्ष और परोक्ष जगत की है, तो प्रत्यक्ष जगत में इसका माध्यम बनी—प्रकृति व जनता और परोक्ष जगत में इसका माध्यम बनी—अपशक्तियाँ या नकारात्मक शक्तियाँ और रुद्रगण।

इन चौबीस वर्षों में प्रकृति किस कदर कहर ढाती रही है और जनसामान्य ने संपूर्ण विश्व में कैसे उलट-फेर किए हैं, ये सब हम सबने देखा है। ये सब अनियंत्रित न होने पाए तथा इसका उद्देश्य सकारात्मक बना रहे, अब तक की गई गुरुदेव की साधना इसीलिए थी। अब इस वसंत पर्व से स्थिति में परिवर्तन आने वाला है। हम सबको भली प्रकार याद है कि वसंत, १९९० में गुरुदेव ने एकांत वास लिया था। साथ ही एक पत्रक भी लिखा था, **'वसंत पर्व पर महाकाल का संदेश'**। इसी वर्ष गायत्री जयंती को यानी कि २ जून, १९९० को उन्होंने अपने स्थूलशरीर का परित्याग किया था। इस वर्ष यानी कि २०१४ की गायत्री जयंती को इसके भी चौबीस वर्ष पूरे हो जाएँगे। जहाँ तक इस वर्ष नए आरंभ का सवाल है तो इसके लिए उन्होंने कहा था—''सन् २०१४ की वसंत पंचमी से धरती की कक्षा से नकारात्मक शक्तियों के विदा होने की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाएगी।''

तमस् का यह आवरण अब हटने को है

जो अंधकार की परत अपनी संपूर्ण धरती की कक्षा पर छाई हुई है, उसके हटने का क्रम प्रारंभ हो जाएगा, फिर भी यह कार्य एक दिन या एक वर्ष में नहीं हो पाएगा। इसमें दो से तीन वर्ष तक का समय लग सकता है। इसलिए इसमें नकारात्मक घटनाएँ, प्राकृतिक आपदाएँ तो अवश्य घटेंगी, परंतु उनकी तीव्रता में कमी होगी, साथ ही उन्हें नियंत्रित भी किया जा सकेगा। धरती की कक्षा से अंधकार की संपूर्ण परत को हटा देना एक दुष्कर, दुःसाध्य कार्य है। तमस् के इस महाआवरण को तोड़ने के लिए पूज्य गुरुदेव ने सौरशक्तियों के प्रयोग व सूर्य-साधना की बात कही थी। उनके अनुसार इन तीन वर्षों की अवधि में उन्हें कुछ इसी तरह के पुरुषार्थ करने पड़ेंगे, जैसे कि उनके शरीर रहते सूक्ष्मीकरण साधना में किए गए थे। ये तीन वर्ष, अर्थात २०१४, २०१५ एवं २०१६ कठिन तो हैं, परंतु ये **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** का, अर्थात तमस् के अँधियारे से प्रकाश के उजियारे की ओर बढ़ चलने का संदेश भी देते हैं, जो कि शुभ और सुखद है।

परमपूज्य गुरुदेव ने जब इसकी चर्चा की थी तो उन्होंने कहा था कि योगशास्त्र में महर्षि पतंजलि ने योग अंतराल की चर्चा की है। इस अंतराल में साधक की साधना अवरुद्ध हो जाती है। वह बस, अपने कर्म, भोग व प्रारब्ध को काटता रहता है। उसका तप इसी हेतु खपता है। इस अंतराल की अवधि में उसके जीवन में कुछ भी शुभ व सुखद नहीं हो पाता। साथ ही उसकी साधना भी अवरुद्ध होती रहती है। बस, ठीक कुछ ऐसी ही स्थिति धरती की कक्षा के लिए इन चौबीस वर्षों में बनी रही। बस, महाकाल के महातप के प्रभाव से सब कुछ नियंत्रित बना रहा। सर्वनाशी प्राकृतिक आपदाएँ आईं और नियंत्रित नुकसान करके चली गईं। युद्ध की विभीषिकाएँ उमड़ीं अवश्य, पर व्यापक विश्वव्यापी युद्ध का रूप नहीं लेने पाईं। आतंकी-अलगाव के षड्यंत्र हुए अवश्य, पर देश की अखंडता सुरक्षित रही।

इस वसंत से नए आयाम का आरंभ

अब इस वसंत से परमपूज्य गुरुदेव की साधना का जो नया आयाम आरंभ हो रहा है, उसके प्रभाव से धरती

की कक्षा पर छाया अँधेरा हटेगा, साथ ही हटेंगी अँधेरे की गतिविधियाँ व क्रियाशीलता। इसके प्रभाव से अपशक्तियाँ या नकारात्मक शक्तियाँ न केवल नियंत्रित होंगी, बल्कि उनकी विदाई का प्रारंभ भी होगा। यह प्रक्रिया भारतभूमि को केंद्र बनाकर विश्वव्यापी रूप ले लेगी। जैसे-जैसे यह प्रक्रिया पूरी होती जाएगी, वैसे-वैसे धरती पर नकारात्मक घटनाक्रम कम होते जाएँगे। प्रक्रिया पूर्ण होने पर दिव्य कक्षा से धरती पर प्रकाश के अवतरण का कार्य शुरू हो जाएगा।

ध्वंस का समय समाप्त, सृजन का समय आरंभ

इस सत्य को परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी भाषा में समझाते हुए कहा था कि जब कोई नया भवन बनाना होता है तो सबसे पहले वहाँ पर बने पुराने भवन को तोड़ने के लिए मजदूर बुलाए जाते हैं। ये मजदूर अपने स्वभाव व प्रकृति से अनगढ़ होते हैं। ये तो तोड़ने वाला हथौड़ा चलाना जानते हैं। इनकी तोड़-फोड़ जब पूरी हो जाती है तो फिर कुशल कारीगरों की बारी आती है। इनकी अपनी टीम होती है, जो बड़ी कुशलता से नए और भव्य भवन का निर्माण करती है।

बस, इस २०१४ के वसंत पर्व से इन तोड़-फोड़ करने वाले अनगढ़ मजदूरों की विदाई होने वाली है, क्योंकि इनका काम पूरा हो रहा है। अब जो कार्य होने वाला है, उसे प्रकाश की दिव्य कक्षा में रहने वाले लोग पूरा करेंगे। संक्षेप में ऋषिमंडल व देवमंडल के द्वारा यह कार्य किया जाएगा। इसके सूत्र-संचालक स्वयं महेश्वर महाकाल होंगे। इन प्रकाशलोक की दिव्य आत्माओं के कार्य का माध्यम बनेंगी—पवित्र व परिष्कृत आत्माएँ। जो शुभ हैं, शुभ्र हैं, पुण्यकर्म करने वाले लोग हैं, वही धरती पर सृजनकार्य का श्रेय पाएँगे।

इस प्रसंग में पूज्य गुरुदेव ने एक बात यह भी कही थी कि प्राय: लोगों को यह शिकायत रहती है कि हमेशा अच्छे लोग ही कष्ट क्यों पाते हैं ? इसके जवाब में यह कहना है कि अच्छे लोगों में परिष्कार की, पवित्रता की चाहत बड़ी तीव्र होती है। ऐसी जीवात्माएँ अपने को महाकष्ट में डालकर भी अपने सभी दाग धो देना चाहती हैं। जब इनके दाग धुल जाते हैं तो ये परिष्कृत हो जाती हैं। यही दिव्य आत्माएँ बाद में महाकाल की महायोजना में भागीदार बनती हैं।

इन पिछले चौबीस वर्षों में पूज्य गुरुदेव की साधना के प्रभाव से कई कार्य संपन्न हुए हैं। इस अवधि में न केवल पुराने खंडहर टूटे हैं, बल्कि अनेक जीवात्माओं ने अपने दाग भी धोए हैं। अनेकों को परिष्कृत व पवित्र होने का अवसर मिला है। यह अवधि उनके लिए एक विलक्षण तप की रही है। अब बारी है, उनके श्रेय में भागीदार बनने की। गुरुदेव ने इसी सत्य की चर्चा करते हुए लिखा था कि नर-कीटक, नर-पशु, नर-पिशाच से ऐसे व्यक्ति गढ़े जाएँगे, जिन्हें महामानव, देवमानव कहा जा सके। इस अवधि में जो कर्ममुक्त हुए, अब बारी उनके कर्म करने की है। संक्षेप में श्रेष्ठ कर्म, सृजन कर्म करने के प्रारंभ का समय अब आ गया है। इस वसंत से, सन् २०१४ से यही नया आरंभ होने जा रहा है।

बड़ा विलक्षण व अद्‌भुत है यह वसंत

कई अर्थों में विलक्षण व अद्‌भुत है यह वर्ष। इस वर्ष का महत्त्व व मूल्य परमपूज्य गुरुदेव के अंग-अवयवों के लिए बहुत ज्यादा है। यह वर्ष निश्चित रूप से उज्ज्वल भविष्य के आगमन की घोषणा का वर्ष है। इसके आने वाले तीन वर्षों में अँधियारे की विदाई सुनिश्चित है। इसी के साथ सुनिश्चित है—दिव्य कक्षा के प्रकाश का धरती पर अवतरण। धरती पर जो सत्त्व गुण संपन्न व शुभवृत्तियों से युक्त होंगे, वही इसका माध्यम बनेंगे। जैसे-जैसे यह प्रकाश बढ़ता जाएगा, धरती पर क्रमिक रूप से सकारात्मक घटनाक्रम भी बढ़ते जाएँगे। प्रकाश का यह वेगपूर्ण अवतरण धरती की कक्षा से तमस् को हटाएगा, मिटाएगा। प्रकृति के तीन गुणों में जहाँ अभी तम की प्रधानता है, वहीं इसके प्रभाव से सत्त्व की प्रधानता बढ़ेगी।

सत्त्व की इस प्रधानता के बढ़ने से शुभ बढ़ेगा और क्रमश: वे सभी घटनाएँ घटित होंगी, जिनकी चर्चा परमपूज्य गुरुदेव ने सन् १९८७ के जनवरी में लिखे गए कुंडलिनी विशेषांक में लिखी थी। यह परिवर्तन क्रमिक होगा, यानी कि धीरे-धीरे। युगऋषि गुरुदेव के साधना शताब्दी वर्ष अर्थात २०२६ की वसंत पंचमी तक इसे बड़ा साफ-साफ अपनी खुली आँखों से देखा जा सकेगा। गुरुदेव ने जो युग-परिवर्तन के बीज बोए थे, उनकी फसल लहलहाती हुई दीखने लगेगी। हाँ, पर उन बीजों में अंकुर इसी वसंत को फूटने को है। इन अर्थों में सन् २०१४ में नवयुग के आगमन का स्पष्ट संदेश मुखरित है। बस, इसकी ध्वनि को सुनने और अपने कर्त्तव्य-निर्वहन में लगने की बारी हम सबकी है।

विकास के मार्ग में अवरोध है अहंकार

अहंकार एक विषधर है, जिसमें व्यक्ति स्वयं को विशेष, महत्त्वपूर्ण समझने लगता है। अहंकारी व्यक्ति स्वयं तो पतन के मार्ग पर अग्रसर होता ही है साथ ही उससे संबंधित समाज भी दुष्प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

अहंकार का जागरण तब होता है, जब व्यक्ति धन-संपत्ति, सौंदर्य, शरीरबल, जाति-वंश, शक्ति-सामर्थ्य, बुद्धि, कला, पद, तपस्या, सिद्धि आदि के आधार पर स्वयं को दूसरों की तुलना में श्रेष्ठ मानने लगता है। सफलता प्राप्त करने पर वह यह समझने लगता है कि मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ, मेरा जैसा अन्य कोई हो ही नहीं सकता, जो मैंने किया, वह अन्य कोई कर ही नहीं सकता। अहंकार रूपी यह विष-बेल उसके विचारों व भावों का पोषण पाकर फलने-फूलने लगती है।

अहंकारी व्यक्ति चाहता है कि अन्य लोग उसकी प्रशंसा करें, उसकी पुष्टि करें और उसको सम्मान प्रदान करें। वह अन्य लोगों पर आधिपत्य जमाना चाहता है, उन्हें अपनी इच्छानुसार चलाना चाहता है। वह चाहता है कि अन्य व्यक्ति उसकी सभी बातों का अनुमोदन करें। वह अपनी आलोचना सुनना पसंद नहीं करता। जब तक उसके अहंकार की पुष्टि होती रहती है, तब तक वह सुखी अनुभव करता है। अहंकार की तुष्टि न होने पर वह अत्यंत दुखी हो जाता है तथा जिस व्यक्ति के कारण ऐसा न हो पाया हो, उससे प्रतिशोध लेने को तत्पर हो जाता है।

अहंकार का जागरण होते ही सारे सद्गुण उससे उसी प्रकार दूर होते चले जाते हैं, जिस प्रकार किसी जलस्रोत के सूख जाने पर उसके समीप रहने वाले पशु-पक्षी। अहंकार को मद भी कहा गया है। मद अर्थात नशा। अहंकार का नशा हो जाने पर व्यक्ति मद्यपों की भाँति मतवाला हो जाता है। उसका विवेक नष्ट होने लगता है, उसमें उचित-अनुचित का निर्णय करने का ज्ञान नहीं रहता। उसकी आत्मनिरीक्षण, स्वदोष-दर्शन की शक्ति व क्षमता समाप्त हो जाती है, फलतः उसमें अन्य अनेक दोष-दुर्गुण पनपने लगते हैं। उसको किसी की प्रगति अच्छी नहीं लगती और किसी को प्रगति करता हुआ देखकर वह उससे ईर्ष्या-द्वेष करने लगता है। उसको अपने सिवाय कोई श्रेष्ठ नहीं लगता व स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए परनिंदा में रस लेने लगता है।

अहंकारी व्यक्ति के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। पुराणों में उल्लेख प्राप्त होता है कि देवताओं को कई बार असुरों से पराजित होना पड़ा; क्योंकि प्रत्येक देवता को अपनी शक्ति का अहंकार रहा। अहंकारी व्यक्ति की उन्नति का मार्ग तो अवरुद्ध होता ही है, इतना ही नहीं, वरन उसका पतन होना आरंभ हो जाता है। यदि समय रहते वह व्यक्ति सजग-सचेत न हो, न सँभले तो अंततः अहंकार उसके विनाश का कारण बन जाता है। हिरण्यकशिपु, रावण, कंस, दुर्योधन आदि के उदाहरण सर्वविदित हैं। जब इनका अहंकार पराकाष्ठा पर पहुँच गया तो काल ने इनको समाप्त कर दिया। इसीलिए विज्ञजनों ने अहंकार से बचने के लिए कहा है। तुलसीदास जी ने अहंकार को सब दुःखों का कारण बताते हुए इसके नष्ट होने को भगवान की सबसे बड़ी कृपा माना है—

संसृत मूल सूलप्रद नाना।
सकल सोक दायक अभिमाना॥
ताते करहिं कृपानिधि दूरी।
सेवक पर ममता अति भूरी॥

अहंकार की सत्ता जल के बुलबुले की तरह होती है, जिसको नष्ट होने में समय नहीं लगता। इस संदर्भ में एक प्रसंग उल्लेखनीय है। सम्राट भरत ने जब संपूर्ण भूमंडल को जीत लिया तो उनने देवराज इंद्र के पास जाकर कहा—"अब मुझे अपनी कीर्ति को अक्षय-अमर रखने के लिए वृषभाचल पर अपना नाम अंकित करना चाहिए।" इंद्र ने इसमें सहमति व्यक्त की। सम्राट भरत वृषभाचल पर पहुँचने पर यह देखकर अचंभित रह गए कि पूरा पर्वत चक्रवर्ती सम्राटों के नामों से भरा है, उसमें इतना स्थान भी खाली नहीं है कि एक नाम और लिखा जा सके । बहुत खिन्न मन से वे इंद्र के पास लौट आए

और बोले—''उसमें तो मेरा नाम लिखने योग्य स्थान ही नहीं है, अब मैं अपना नाम कैसे लिखूँ?'' इंद्र बोले—''तुम किसी का नाम मिटाकर अपना नाम लिख दो। सहस्त्रों-सहस्त्रों वर्षों से यही परंपरा चली आ रही है।'' इस पर भरत ने कहा—''तो फिर भविष्य में मेरा नाम मिटाकर कोई अन्य व्यक्ति अपना नाम लिख सकता है?'' इंद्र ने कहा—''हाँ, ऐसा हो सकता है।'' तब भरत बोले—''तो फिर ऐसी उपलब्धि पर अहंकार करने से क्या लाभ, जिसका कोई स्थायी अस्तित्व न हो।'' सम्राट भरत का अहं विगलित हो गया। वे अनुभव करने लगे कि कितना विराट और अनादि अनंतकाल से चला आ रहा है यह जगत। इस विराट जगत में अपना अस्तित्व, अपना स्थान है ही कितना। यह सोचना कितना गलत है कि जो मैंने किया, वह कोई कर ही नहीं सकता। यह सोचकर भरत इंद्रलोक से वापस लौट आए।

यह विचारणीय तथ्य है कि जब सृष्टि का सृजेता शाश्वत ईश्वर स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने का कभी कोई प्रयास नहीं करता, तब हम मरणधर्मा होते हुए स्वयं को श्रेष्ठ मानने व सिद्ध करने का उपाय किस आधार पर कर सकते हैं?

अहंकार व्यक्ति को पतन के मार्ग पर ले जाता है, इसलिए मनुष्य को जो कुछ भी विशेषता प्राप्त हो उसके आधार पर स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने के बजाय इसका सदुपयोग स्वयं के विकास में एवं दूसरों के कल्याण के लिए करना चाहिए। उसे यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर के सिवाय अन्य कुछ भी न तो श्रेष्ठ है और न स्थायी। जिन उपलब्धियों के कारण आज वह गर्वोन्मत्त हो रहा है, उन्हें नष्ट होने में क्षणमात्र भी नहीं लगेगा। ऐसा सोचकर व्यक्ति को सदैव विनम्र व शालीन बने रहना चाहिए। अपनी उपलब्धियों व सफलताओं को ईश्वर की कृपा मानते हुए उसका कृतज्ञताज्ञापन करते रहना चाहिए। निरहंकारिता ही उन्नति-प्रगति, सुख-संतोष व प्रसन्नता का मार्ग प्रशस्त करती है।

❀

महाराज रविशंकर माह में एक बार अपने राज्य के विभिन्न गाँवों में अन्न बाँटने जाया करते थे। एक बार वे अनाज बाँटने पहुँचे तो उन्हें एक गरीब महिला मिली। महाराज ने उसे अनाज देने का प्रयत्न किया तो वो बोली—''महाराज! जब परमात्मा ने इतना बढ़िया शरीर दिया है तो परिश्रम छोड़कर मुफ्त का अन्न कैसे ग्रहण करूँ?'' महाराज को उसकी यह बात बड़ी अच्छी लगी और उन्होंने उस महिला से पूछा—''वो आजीविका कैसे प्राप्त करती है।'' वो महिला बोली—''महाराज! मैं युवावस्था में ही विधवा हो गई थी। अत: परिवार में कोई नहीं है। जंगल से लकड़ी काटती हूँ और उसे बेचकर गुजारा कर लेती हूँ।''

महाराज ने उससे पूछा—''क्या उसके पति ने उसके लिए कोई जायदाद नहीं छोड़ी।'' तो वह बोली—''उनकी तीस बीघा जमीन थी तो उसे बेचकर मैंने एक कुआँ व हौदी बनवा दी। गाँव की महिलाओं को दो-तीन मील पैदल जाकर पानी लाना पड़ता था।'' उस विधवा के उत्सर्ग व त्याग की कहानी जानकर महाराज रविशंकर अत्यंत प्रभावित हुए और बोले—''तुम धन्य हो देवी! धन से न सही, पर मन से तो तुम इतनी धनवान हो कि कोई करोड़पति भी तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकता।''

धर्मनिष्ठ राजा का न्याय

कश्मीर नरेश महाराज यशस्कर देव झेलम नदी के किनारे अकेले भ्रमण कर रहे थे। भगवती वितस्ता (झेलम) अपने पूरे वेग से प्रवाहित हो रही थी। इसकी कल-कल ध्वनि से आस-पास के वातावरण में संगीत के स्वर फूट रहे थे। चिड़ियों की चहचहाहट से इस वातावरण में और भी माधुर्य घुल रहा था। हरी-भरी वादियों के ऊपर बरफ से आच्छादित श्वेत पर्वतशृंखलाएँ इस घाटी के सौंदर्य एवं शृंगार को बहुगुणित कर रही थीं।

धरती का स्वर्ग कश्मीर अपने सौंदर्य से किसी के भी मन को आकर्षित करने के लिए पर्याप्त है। प्रकृति की इस दिव्य एवं सुरम्य स्थली में किसी का भी अशांत मन शांत हो सकता है, परंतु कश्मीर नरेश का मन शांत नहीं हो पा रहा था। महाराज अपनी राजकीय वेशभूषा में थे। ऊँचा कद, गेहुँआ रंग एवं चौड़ा ललाट उनके भव्य व्यक्तित्व का परिचायक था। प्रकृति के ऐसे रमणीक स्थल में ऐसे भव्य व्यक्तित्व के धनी महाराज यशस्कर देव का मन उद्वेलित हो रहा था। कोई तो ऐसी बात थी, जो उनके मन को चुभ रही थी और उस चुभन से उनका मन अशांत एवं उद्वेलित हो रहा था और इसी कारण वे इन सुरम्य वादियों में भी चिंतित थे।

इस शीतल वातावरण में भी महाराज के माथे पर पसीने की बूँदें छलक आईं थीं। महाराज ने उन्हें पोंछा नहीं और वे झेलम के किनारे एक पत्थर पर बैठ गए। महाराज के मंत्री, सेवक उनसे दूर उनके आदेश की प्रतीक्षा में सजग एवं सतर्क थे, परंतु कोई भी उनकी इस अवस्था में उनसे कुछ भी पूछने का साहस नहीं सँजो पा रहा था। उन्हें वह बात रह-रहकर कचोट रही थी, जो राजदरबार में एक नागरिक चीख-चीखकर कह रहा था—"महाराज! आपके इस समृद्ध, शांत एवं सुखी राज्य में मुझे किसी से भी भय नहीं है। मैं भयभीत नहीं हूँ, परंतु मेरे साथ घोर अन्याय हुआ है। मुझे बड़ी चतुरता से आपके प्रशासन द्वारा छला गया है। मेरे पक्ष को नकार दिया गया और एक न्यायप्रिय व सत्यनिष्ठ राजा के राजदरबार में मैं अन्याय का शिकार हुआ हूँ।"

महाराज यशस्कर देव सत्यनिष्ठ होने के साथ अत्यंत संवेदनशील भी थे। वे अपने राज्य में किसी को दुखी एवं पीड़ित नहीं देख पाते थे। अन्याय को कभी बरदाश्त नहीं कर पाते थे। यहाँ तो उनके सामने दोनों ही असहनीय घटनाएँ घट गई थीं, जो उनके अंतर्मन एवं मस्तिष्क को झकझोर रही थीं। वे जानते थे कि एक छोटी-सी चिनगारी को यदि हवा का साथ मिल जाए तो वह दावानल का रूप धारण कर सर्वनाश का कारण बन सकती है। राज्य में यदि प्रशासनिक अधिकारी ईमानदार न हों तो अन्याय का आधिपत्य हो सकता है। राजा को अपने पूर्वजों को दिया वचन कि वे 'कश्मीर को भयमुक्त, न्यायनिष्ठ एवं विकसित राज्य के रूप में प्रतिष्ठित करेंगे और यही उनका राजधर्म भी है', अब खंडित होता प्रतीत हो रहा था।

फिर वही बातें उनके मन में कौंध गईं। महाराज स्वयं उस नागरिक को आश्वासन देकर कह रहे थे— "बात क्या है? निर्भीक होकर स्पष्ट कहो नागरिक! हम आपके साथ कभी भी अन्याय नहीं होने देंगे। हम न्यायप्रिय हैं, हम पर विश्वास रखो और निडर होकर अपनी बात कहो।" नागरिक की आँखों में निराशा के भाव थे, परंतु वह भयभीत नहीं था। वह बोला—"महाराज! मैं पहले इसी राज्य की राजधानी में रहता था। मैं अपार संपत्ति एवं धन का स्वामी था। मैं समृद्ध एवं धनी था। विवेक के अभाव में मेरा धन ही मेरा शत्रु बन गया। मूर्ख के हाथों धन तो छलनी में दूध रखने के समान है। परिश्रम के अभाव एवं विलासिता के कारण मेरा सारा धन समाप्त हो गया। कहते हैं धन चलायमान होता है, मैंने इसे अनुभव किया है। मेरी मुट्ठी से रेत के समान धन कब रिक्त हो गया, पता ही नहीं चला।"

नागरिक का दुःख पीड़ा बनकर उसकी आँखों से आँसू बनकर छलक उठा। वह थोड़ा शांत हुआ, फिर बोला—"महाराज! एक धनी व्यक्ति घोर दरिद्र बन गया। समृद्धि के सभी साथी-सहयोगी दरिद्रता के आगमन से पूर्व ही साथ छोड़ चुके थे। मैं असहाय एवं दरिद्र बन चुका था। मेरा सब कुछ बिक गया, यहाँ तक कि मैंने घर

भी बेच डाला और स्वयं रोजगार की आशा में दूसरे राज्य को प्रस्थान कर गया। इस अवधि में मैंने अपनी पत्नी को यहीं छोड़ दिया था तथा उसकी जीविका के लिए मकान के सोपान के पास बना कुआँ रहने दिया था। गरमी के दिनों में इस पर माली बैठकर फूल बेचा करते थे और इससे कुछ पैसे मेरी पत्नी को भी मिल जाते थे। जब मैं रोजगार हेतु अन्य राज्य में चला गया तो मकान खरीदने वाले ने बलपूर्वक मेरी पत्नी को वहाँ से दुत्कार कर खदेड़ दिया। लौटने पर मैंने राजलेखक का द्वार खटखटाया, परंतु वहाँ भी मुझे न्याय नहीं मिल पाया।''

महाराज की आँखों के सामने सब कुछ चलचित्र के समान ऐसा घूम रहा था, जैसे वह अतीत का विषय नहीं, वर्तमान में घट रहा हो। महाराज की दृष्टि बड़ी तीक्ष्ण थी, वे किसी भी तथ्य की तह तक पहुँच जाते थे। वे सब समझ चुके थे। अभी झेलम किनारे बैठे उन्हें यही घटना चिंतातुर कर रही थी, पर इन्हीं विषम घड़ियों में उन्हें अपनी समस्या का समाधान मिल गया प्रतीत हुआ। उन्होंने दूर खड़े महामंत्री को संकेत से बुलाया और तुरंत राजदरबार चलने का आदेश दिया।

राजदरबार पहुँचकर महाराज ने मकान खरीदने वाले सेठ तथा राजलेखक को उसके बहीखाते समेत बुलवाया। सभी सभासद अवाक् थे कि आगे क्या होगा, क्योंकि अब तक की यह ऐसी पहली घटना थी। धर्म सिंहासन पर आरूढ़ महाराज ने कहा—''राजलेखक! आपको मकानक्रेता ने विक्रयपत्र के अधिकरण शुल्क हेतु कितने रुपये दिए और क्यों दिए?''

राजलेखक को समझ में आ गया कि मामला शीशे के समान साफ हो चुका है। अब और छिपाने से कोई लाभ नहीं है। इसलिए उसने डरते, काँपते एवं गिड़गिड़ाते हुए कहा—''महाराज! मैं ही दोषी हूँ। मैंने ही न्याय का गला घोटा है। मैंने लोभ के कारण सेठ से घूस ली और कुआँरहित मकान के स्थान पर कुआँसहित मकान लिख दिया और इसके बदले में सेठ ने दस हजार रुपये घूस के दिए।'' महाराज ने कहा—''यदि इसे यहीं नहीं रोका जाएगा तो यह राज्य अधिकार प्राप्त ऊँचे पद वालों एवं धनाढ्य लोगों का गुलाम बन जाएगा। अत: मैं राजलेखक को सश्रम कारावास एवं मकानक्रेता को देश निर्वासन के दंड की घोषणा करता हूँ। घूस लेना एवं देना, दोनों ही अपराध हैं।''

महाराज यशस्कर देव की चिंता अब शांत हुई। वे पूर्ववत् स्थिति में आ चुके थे। महामंत्री ने महाराज को उनकी न्यायिक दूरदर्शिता के लिए साधुवाद प्रकट किया। महाराज की भविष्य-दृष्टि आशंकित थी। वे कह रहे थे—''महामंत्री! भविष्य में अपने राष्ट्र को बड़ी कठिन चुनौतियों से गुजरना पड़ेगा। मुझे चिंता है कि यह सामान्य-सी घूसखोरी कहीं भीषण भ्रष्टाचार का रूप न ले ले। यदि प्रशासनिक अधिकारियों में स्वार्थ पनपेगा तो राजव्यवस्था पर गंभीर प्रश्नचिह्न लगेंगे और राष्ट्र का विकास अवरुद्ध हो जाएगा। परमात्मा से यही प्रार्थना है कि अपने राष्ट्र को कभी ये दिन देखने न पड़ें।'' ❀

एक बाग में दो वृक्ष थे। एक बिलकुल सूख गया था, दूसरा हरा-भरा था। सूखे वृक्ष पर गिद्ध निवास करता था; जबकि हरे वृक्ष पर कोयल रहती थी, दोनों में प्राय: विवाद हो जाया करता था। गिद्ध कहता था कि संसार मिथ्या है, कोयल कहती थी कि संसार सत्य है। एक दिन तोते ने उनके विवाद को सुना तो बोला—''व्यर्थ झगड़ा न करो। संसार परिवर्तनशील है, जो संसार की आसक्ति से परे चले जाते हैं, उनके लिए यह संसार मिथ्या है, पर शेष के लिए यह सत्य है। इस सत्य के अनुरूप जो स्वयं को ढाल लेता है, वही इस संसार का सही अर्थ जान पाता है।''

कहानियों से करें बच्चों का विकास

हमारे संपूर्ण जीवन को चार अवस्थाओं में बाँटा गया है, वे हैं—बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था एवं वृद्धावस्था। वैसे इन चारों अवस्थाओं का अपना-अपना महत्त्व है, किंतु इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है बाल्यावस्था। बाल्यावस्था वह अवस्था होती है, जिसमें जीवन की नींव रखी जाती है, जिस पर भावी जीवन निर्भर करता है। यह तो सर्वविदित है कि जिस भवन की नींव जितनी मजबूत होती है, उतनी ही लंबी उम्र उस भवन की होती है।

वर्तमान समय में बाल्यावस्था के इस महत्त्वपूर्ण समय और इसकी आवश्यकताओं की उपेक्षा की जा रही है। प्रौद्योगिक विकास के साथ व्यक्तियों की मानसिकता में भी भारी परिवर्तन आया है। व्यस्तता एवं बाहरी आडंबर इतना बढ़ गया है कि आजकल माता-पिता के पास अपने बच्चों के लिए समय ही नहीं। वे बच्चों को बड़े से बड़े स्कूल में भरती करवाने एवं ट्यूशन लगवा देने तक ही अपनी जिम्मेदारी समझने लगे हैं। छोटे-छोटे बच्चों पर पढ़ाई का बोझ तो बढ़ा ही है, साथ ही अपने माता-पिता से जो स्नेह-दुलार मिलता था उसमें भी भारी कमी आई है। यही कारण है कि आज छोटे बच्चों में मानसिक समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं। स्कूल की पढ़ाई से बच्चों का बौद्धिक विकास तो होता है, किंतु भावनात्मक विकास तो माता-पिता व परिवार के लोगों के स्नेह व दुलार पर ही निर्भर करता है।

बच्चों के बौद्धिक एवं भावनात्मक विकास में कहानियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह बच्चों को सिखाने की एक मनोवैज्ञानिक पद्धति है, जिसका इस्तेमाल वैदिक काल से होता आ रहा है। एक समय था जब बच्चे बड़ों से कोई कहानी सुने बिना सोते नहीं थे। बड़ों को भी कुछ नया बताने के लिए या तो स्वयं पढ़ना पड़ता था या फिर किसी न किसी से कोई नई कहानी सीखनी पड़ती थी। हर कहानी बच्चों को कुछ नया सिखा जाती है और इस तरह बच्चे कहानियों के माध्यम से जीवन की व्यावहारिक समस्याओं और उनके समाधानों से परिचित होते हैं।

सीखने और सिखाने की वर्षों पुरानी यह परंपरा आज समाज में कम होती नजर आ रही है। वर्तमान समय में न तो माता-पिता बच्चों को कहानियाँ सुनाने में रुचि लेते हैं और न ही इस हेतु कोई प्रयास करते हैं। इसके अभाव में बच्चे इंटरनेट, टी.वी. अथवा वीडियो गेम्स की दुनिया में उलझते जा रहे हैं और उनके अंदर भी ऐसी कहानियों को सुनने की अभिरुचि समाप्त-सी होती जा रही है।

कहानियों को सुनाने की परंपरा आज गावों में भी समाप्त होती नजर आ रही है। शहरों और महानगरों में तो इस पर सोचने की भी किसी को फुरसत नहीं। हाँ, बच्चों को जल्द से जल्द समझदार और कामयाब बना देने की बेचैनी जरूर हर जगह पर एक-सी दिखाई देती है। ऐसे अभिभावकों के लिए एक शोध चेतावनी लेकर आया है। हाल ही में ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस की ओर से कराए गए शोध के नतीजे बताते हैं कि जो माता-पिता अपने बच्चों को कहानियाँ नहीं सुनाते, उनके लिए खुद कुछ नया सीखने या पढ़ने की कोशिश नहीं करते, उन बच्चों की पढ़ाई बाधित होती है और अक्सर कामयाबी की दौड़ में वे पीछे रह जाते हैं। इस शोध के लिए दुनिया भर के सैंकड़ों बच्चों को चुना गया था और देखा गया कि जो माता-पिता अपने बच्चों को कहानियाँ सुनाते हैं, कहानियों के माध्यम से जीवन के बारे में समझाते हैं, उनके बच्चे कई मामलों में आगे बढ़ते नजर आते हैं। इस शोध से यह निष्कर्ष निकलता है कि सीखने-सिखाने की इस सहज परंपरा को अपनाने की जरूरत सभी अभिभावकों को आज पहले से भी ज्यादा है।

जहाँ पर सीखने की ललक है, वहाँ तरीका बदल गया है। इस सीखने का उद्देश्यमात्र बच्चों को कामयाबी की दौड़ और होड़ में धक्का दे देना है, उन्हें जीवन के वास्तविक उद्देश्य से परिचय कराना नहीं। सीखने की यह एक ऐसी होड़ है, जिसमें सब यही चाहते हैं कि बच्चे जल्दी बड़े हो जाएँ, समझदार हो जाएँ; अब वे खुले आसमान के नीचे तितलियों के पीछे न भागें, संसार को अनुभव से न सीखें, बल्कि वे फौरन कंप्यूटर की भाषा जान जाएँ, कैल्क्युलेटर से गणना करते हुए गणित सीख

जाएँ। वर्षों पहले बच्चों को कहानियों के माध्यम से सिखाकर समाज को आगे ले जाने का सपना जिन लोगों ने देखा था, उनका भी मानना था कि बच्चे जीवन का सही स्वरूप कल्पनालोक में भटककर ही जान पाते हैं, जिसका अवसर आज के बच्चों को किसी भी माध्यम से नहीं मिल पाता।

यूनेस्को ने अपने एक दस्तावेज में सहज ढंग से बच्चों की कल्पनाशक्ति को विकसित करने के लिए उन्हें कहानियाँ सुनाने की बात कही है। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित जेम्स क्लेमेंट्स की रिपोर्ट कहती है, 'जब हम बच्चों को कहानियाँ पढ़कर सुनाते हैं तो वे छोटी उम्र में ही किताबों में इस्तेमाल किए हुए शब्द सीखने लग जाते हैं। हर बार जब हम बच्चों को पढ़कर सुनाते हैं तो हम उनके दिमाग में यह बैठा रहे होते हैं कि पढ़ाई रोचक भी हो सकती है। अगर माता-पिता अपने बच्चों के लिए रोज १० मिनट पढ़ें तो बच्चे किताबों के शौकीन हो सकते हैं।'

प्रसिद्ध लोककथा विशेषज्ञ एरिक मिलर का कहना है कि 'कहानियाँ पारंपरिक तौर पर गाँवों में सुनाई जाती थीं। इनका मकसद घर पर बच्चों को कई तरह की नैतिक शिक्षाएँ देना होता था।' कहानियों के माध्यम से नैतिक शिक्षा देना हमारी प्राचीन परंपरा रही है। इस संदर्भ में 'पंचतंत्र' के रचयिता श्री विष्णुशर्मा प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने कहानियों के माध्यम से राजा अमरशक्ति के अनगढ़ बच्चों को छह माह में चतुर, व्यवहारकुशल और नीतिज्ञ बना दिया था। एक बार किसी भारतीय ने जर्मन विद्वान डॉ० विक्टर नीत्ज से पूछा था—"आपके अनुसार संसार को भारत की मौलिक देन क्या है?" तो वे बोले—"भारत की मौलिक देन है—पशु-पक्षियों की कहानियों के माध्यम से दिया गया श्री विष्णुशर्मा का श्रेष्ठ ज्ञान।"

कहानियों में सरल, विशिष्ट व लोकभाषा का प्रयोग करते हुए एक महत्त्वपूर्ण घटनाक्रम को पिरोया जाता है और उस घटनाक्रम में जीवन से संबंधित महत्त्वपूर्ण बातें छिपी होती हैं और उनसे कोई न कोई सीख मिलती है, जो अपनाने योग्य ही होती है। छोटी-छोटी कहानियाँ सुनाना, जीवन की गूढ़ बातों को समझाने की वह रोचक शैली है, जो सभी को मनोरंजक लगती है और इसके माध्यम से गंभीर बातें भी लोगों को सहज रूप से समझ में आ जाती हैं। बच्चों का मन जीवन की जिन गंभीर बातों को समझ नहीं पाता, कहानियों के माध्यम से उन्हें आसानी से समझ लेता है। माता-पिता को यदि अपने बच्चों का समुचित ढंग से विकास करना है तो उन्हें अपने बच्चों को प्यार व भरपूर समय देने के साथ-साथ छोटी-छोटी कहानियाँ भी सुनानी चाहिए।

आजकल के जमाने में जहाँ आगे बढ़ने के लिए बच्चों को कंप्यूटर, इंटरनेट का ज्ञान होना जरूरी है, वहीं नैतिक व व्यावहारिक जीवन की महत्त्वपूर्ण बातों को जानना व समझना भी जरूरी है, तभी उनका सर्वांगीण विकास संभव है। इसी कारण परमपूज्य गुरुदेव ने अन्य सत्साहित्यों के संकलन के साथ बच्चों के भावनात्मक, मानसिक व व्यावहारिक जीवन के विकास के लिए बाल-निर्माण की कहानियों का संकलन किया और बड़े लोगों के लिए प्रज्ञा पुराण की कथाओं का। बच्चों व बड़ों के लिए संकलित की गई कहानियों में अंतर होता है। उनमें भाषाशैली, पात्र, घटनाक्रम आदि का अंतर होता है, परंतु दोनों का उद्देश्य जीवन के गूढ़ विषयों को सरलता से समझाना ही होता है।

हमारे जीवन के ऐसे बहुत से पहलू हैं, जिनका हमें ज्ञान नहीं होता और यदि उनके बारे में जानना है तो इसके लिए पढ़ना जरूरी है। अच्छे साहित्य को पढ़ने से हम जीवन के उन रहस्यों से परिचित होते हैं, जिन्हें दूसरों ने अनुभव किया। इस तरह हमारा व्यावहारिक ज्ञान सशक्त होता है व हमें भावनात्मक पोषण भी मिलता है। जीवन के विकास के माध्यम कई हो सकते हैं, किंतु कहानियाँ वह सहज उपाय हैं जिनके माध्यम से बच्चों को आसानी से जीवन के महत्त्वपूर्ण पक्षों के बारे में सिखाया जा सकता है एवं उन्हें कर्त्तव्यनिष्ठ, अनुशासनप्रिय व संतुलित भावनाओं वाला बनाया जा सकता है।

बचपन से ही बच्चों को कहानियाँ सुनाना चाहिए और पाठ्यपुस्तकों के साथ कहानियों की किताबें भी उन्हें पढ़ने के लिए देनी चाहिए। बड़े हो जाने पर प्रज्ञा पुराण, ऐतिहासिक कहानियाँ, महापुरुषों के जीवन प्रसंग व लोककथाएँ आदि भी पढ़ने के लिए प्रेरित करना चाहिए और इन्हें उपलब्ध कराना चाहिए। जो माता-पिता अपने बच्चों के लिए इतना कर पाने में सक्षम होंगे, वे उनके समग्र विकास की राहें ही प्रशस्त करेंगे। दीखने में कहानियाँ सुनाना या अच्छा साहित्य पढ़ने के लिए प्रेरित करना छोटे से उपक्रम लग सकते हैं, परंतु जीवनयात्रा छोटे-छोटे कदमों को लेकर के ही पूरी होती है।

महाशिवरात्रि का महापर्व

महाशिवरात्रि का पर्व साधना की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण पर्व है। रात्रि की अपनी महिमा है। इसलिए श्रीदुर्गासप्तशती में रात्रि के बारे में यह उल्लेख है कि—**कालरात्रिर्महारात्रिः मोहरात्रिश्च दारुणा**। अर्थात चार महत्त्वपूर्ण रात्रियाँ हैं—कालरात्रि, महारात्रि, मोहरात्रि व दारुणरात्रि। इनमें कालरात्रि ही शिवरात्रि का दूसरा नाम है। महारात्रि दीपावली की रात्रि है। मोहरात्रि शरद पूर्णिमा की रात्रि है और दारुणरात्रि होली की रात्रि है।

ये चारों ही रात्रियाँ महत्त्वपूर्ण उपासना पर्व हैं, जिनमें साधकगण अपनी विशेष साधनाओं को संपन्न करते हैं। रात्रि पोषणकर्त्री है। औषधियों में प्राण व अमृत की वर्षा रात्रि में चंद्रमा के प्रकाश से होती है, इसी तरह रात्रि में ही संपूर्ण विश्व में शांति प्रसारित होती है, इसके साथ ही ऊर्जा की कुछ दिव्य धाराएँ भी रात्रि में प्रवाहित होती हैं, जिन्हें साधना के माध्यम से ही ग्रहण करना संभव है। इस तरह रात्रि का बहुत महत्त्व है और विशेष रात्रियों का महत्त्व तो विशेष ही होता है।

महाशिवरात्रि का महत्त्व इसलिए भी है कि इसी दिन भगवान शिव व माता पार्वती का विवाह हुआ था। इसलिए यह रात्रि भगवान शिव को अति प्रिय है। इस रात्रि का पूजन, जागरण करने से सूक्ष्मजगत के ऊर्जा प्रवाहों से सहज ही साधकों का संपर्क होता है और वे भगवान शिव के अनुदानों से अनुगृहीत होते हैं। भगवान शिव के बारे में कहा जाता है कि शिव फक्कड़ हैं, भोलेनाथ हैं, औघड़दानी हैं। केवल एक लोटे जल व बिल्व पत्र के अर्पण से ही प्रसन्न हो जाते हैं और लोग उन्हें प्रसन्न करने के लिए जल अर्पण करते हैं। इनकी पूजा-आराधना में कर्मकांड की उतनी आवश्यकता नहीं, फिर भी कर्मकांड का अपना महत्त्व है, जो अपना फल देता है।

शिव का अर्थ है—कल्याणकारी। जो सदैव कल्याण करते हैं, वे शिव हैं। लेकिन शिव के गणों में एकादश रुद्र भी हैं, जो अपने क्रोध से विध्वंस लाते हैं, विनाश करते हैं। यजुर्वेद में 'रुद्रसूक्त' में इनकी स्तुति है और इनसे प्रार्थना की गई है कि ये अपने रुद्र रूप से शिव रूप में आएँ और कल्याणकारी बनें।

हमारे देश में जगह-जगह पर भगवान शिव के मंदिर हैं। यदि भारत में द्वादशज्योतिर्लिंगों की स्थिति देखी जाए तो दक्षिण में रामेश्वर, काशी में विश्वनाथ, उज्जैन में महाकाल, गुजरात में सोमनाथ और तमिलनाडु में श्री शैलपर्वत पर मल्लिकार्जुन हैं। हिमालय में केदारनाथ, महाराष्ट्र में त्र्यंबकेश्वर, बिहार में बैद्यनाथधाम, द्वारका में नागेश्वर, असम (कामरूप) में भीमाशंकर हैं। इसके साथ ही कश्मीर में अमरनाथ, उड़ीसा में भुवनेश्वर हैं। भगवान शिव की भौगोलिक सीमा में कैलास मानसरोवर तथा नेपाल का पशुपतिनाथ भी हैं। इस तरह एक शिवसूत्र में यह पूरा राष्ट्र गुँथा हुआ है। भारत के इतिहास में अनेक जातियों का उल्लेख मिलता है, जिनमें यक्ष, राक्षस, गंधर्व, किरात, किन्नर, नाग, निषाद, देव, असुर, आर्य, द्रविण और उनसे भी पहले कबीला युग के गणगोत्रों की विविधता है, परंतु ध्यान देने की बात यह है कि राक्षसराज रावण भी शिव के उपासक रहे और यक्षराज कुवेर भी। किरात रूप में भी शिव का आविर्भाव प्रसिद्ध है। भगवान शिव ने कभी भी किसी के साथ भेदभाव नहीं किया। किसी भी जाति-धर्म को महत्त्व नहीं दिया, उनके लिए सब समान हैं, विशेष है तो केवल श्रद्धा व भाव। जो जिस श्रद्धा के साथ भगवान का ध्यान करते हैं, भगवान भी उनका उतना ही ध्यान रखते हैं, इसमें जरा भी भेदभाव नहीं करते।

महाशिवरात्रि की रात्रि में शिवलिंग की पूजा की जाती है और शिवाभिषेक, रुद्राभिषेक आदि भी किया जाता है, जिससे भगवान शिव की कृपा हम पर बनी रहे और हम कल्याण के पथ पर चलते रहें। शिवलिंग प्रतीक है—विश्व-ब्रह्मांड का, जिसके कण-कण में भगवान शिव का वास है और शिवलिंग पर विभिन्न सामग्रियों जैसे—दूध, दही, गंगाजल, घृत, गन्ने का रस, सुगंधित द्रव्य आदि से अभिषेक करने का यही तात्पर्य है कि इन विभिन्न सामग्रियों के माध्यम से हम विश्व-वसुधा को

समुन्नत कर रहे हैं, परिपुष्ट कर रहे हैं। अपने कर्मों को विभिन्न रूपों में शिवरूपी ब्रह्मांड को अर्पण कर रहे हैं। यह समर्पण की भावना ही हमें शिव की ओर अर्थात कल्याण की ओर ले जाती है।

अधिकांश लोग भगवान शिव का पूजन मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए करते हैं और यदि उनकी भावनाएँ व प्रार्थनाएँ भगवान शिव तक पहुँचती हैं और वे कल्याणकारी होती हैं तो वे उन्हें पूरा भी करते हैं, लेकिन भगवान शिव की पूजा केवल कर्मकांड, मनोकामना पूर्ति के लिए ही नहीं है, यह पूजा इसलिए भी है कि व्यक्ति का मन स्वच्छ हो। जिस तरह हम भगवान शिव का जल-दुग्ध आदि पवित्र द्रव्यों से अभिषेक करते हैं, उसी तरह हम भी अपने मन को निरंतर निर्मल करते रहें। जिस तरह हम विभिन्न सामग्रियों को भगवान को अर्पण करते हैं, उसी तरह इस विश्व-वसुधा की भी सेवा करते रहें।

शिवलिंग प्रतीक है—भगवान शिवशंकर के विश्वरूप का। इसमें भगवान शिव व माता पार्वती, दोनों का ही वास होता है, जो इस विश्व-वसुधा के कण-कण में वास करते हैं। अत: हमें सबके साथ आत्मीयता का भाव रखना चाहिए, अच्छा व्यवहार करना चाहिए। भगवान शिव के साथ शिवगण, रुद्रगण, भूत-प्रेत, साँप जैसे जहरीले प्राणी और नंदी बैल आदि भी हैं और सभी साथ-साथ रहते हैं, आपस में तालमेल के साथ। उसी तरह हमें भी भिन्न प्रकार के स्वभावों के साथ तालमेल बैठाकर जीवन जीना सीखना चाहिए।

भगवान शिव योगेश्वर हैं। निरंतर समाधि में लीन रहते हैं, लेकिन संपूर्ण जगत का उन्हें ज्ञान रहता है। वे परम तपस्वी हैं, योगी हैं। प्रकृतिस्वरूपिणी माता पार्वती उनकी अर्द्धांगिनी हैं और परम पवित्र माँ गंगा को वह अपनी जटाओं में धारण किए हुए हैं। अस्त्र के रूप में उन्होंने त्रिशूल धारण किया हुआ है और उसके साथ में डमरू है। भगवान शिवशंकर का स्वरूप बहुत ही प्रतीकात्मक व प्रेरणादायक है। उनकी पूजा-उपासना व आराधना प्रकृति व परमेश्वर की पूजा-आराधना है। जो भी प्रकृति के हितों को ध्यान में न रखकर उसके विरुद्ध कार्य करते हैं, जीवन जीते हैं, भगवान शिव भी उन्हें दंड देते हैं और जो प्रकृति की उपासना करते हुए सेवा-आराधना करते हैं, वह भगवान शिव की उपासना का ही एक रूप होता है।

ऐसा वेद-पुराणों में उल्लेख है कि भगवान शिव अपनी पूजा-उपासना से शीघ्र प्रसन्न होते हैं, इसलिए उनका एक नाम 'आशुतोष' भी है। इसका तात्पर्य यह भी है कि पूजा-उपासना शुभ कर्म है, जिसके माध्यम से हम स्थिर-एकाग्र होते हैं। संसार की बातों को भुलाकर भगवान की ओर बढ़ते हैं। भगवान को शुभ कर्म अच्छे लगते हैं। इसलिए पुरस्कारस्वरूप भगवान अपने भक्तों को अनुदान देते हैं कि वे अपने जीवन में निरंतर शुभ कर्म करते रहें, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि जीवन में केवल पूजा ही करते रहा जाए और कुछ न किया जाए। इसका यह तात्पर्य है कि पूजा-उपासना हम इतनी प्रगाढ़ता से करें कि अपने जीवन में उसे हर पल महसूस कर सकें और अपना कर्त्तव्य कर्म भी पूरा कर सकें, तभी वह पूजा संपूर्ण रूप से प्रकृति व परमेश्वर की आराधना होगी। महाशिवरात्रि के इस पावन पर्व पर भगवान शिव की पूजा-अर्चना के पीछे यही संदेश हम सबके लिए है कि यदि हम जीवन में शुभ कर्म करें तब ही हम कल्याणकारी शिव के प्रिय बन सकेंगे।

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने, पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन्।
ररक्ष तान्त्सुकृतो विश्ववेदा, दिप्सन्त इद्रिपवो नाह देभु:॥

—ऋग्वेद १/१४७/३

परोपकार और परमार्थ के कार्यों में निंदा, लांछन, उपहास आदि का भय नहीं करना चाहिए। ऐसे मनुष्यों की रक्षा स्वयं परमात्मा करता है। अत: निश्चिंत होकर लोक-कल्याण में लगे रहना चाहिए।

भय से भयभीत न हों

मनुष्य की प्रगति में यदि सबसे बड़ी कोई बाधा है तो वह भय है। भय के रूप विविध तथा असंख्य हो सकते हैं। भय एक ऐसा संवेग है, जो हमारे शरीर व मन पर नकारात्मक प्रभाव डालता है। यह हमारे व्यक्तित्व की समस्त संभावनाओं को नष्ट कर देता है, जिसके कारण व्यक्ति इतना निर्बल बन जाता है कि वह साधारण से साधारण कार्य भी नहीं कर पाता। भय की स्थिति में व्यक्ति उचित-अनुचित में भेद नहीं कर पाता, क्योंकि भय हमारे मन-मस्तिष्क को अवरुद्ध कर देता है और हम सही निर्णय ले पाने में असमर्थ होते हैं।

भय सभी को लगता है। वास्तव में भय हमें चेताने आता है, ताकि हम आने वाली विकट परिस्थितियों का सामना करने के लिए तैयार हो जाएँ, किंतु यह घातक तब होता है, जब व्यक्ति को अकारण ही हर चीज से भय लगने लगे। कुछ लोग डर-डरकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं और डर को अपने जीवन का अभिन्न अंग बना लेते हैं। यह मानना भूल है कि डरने से हम प्रगति कर सकते हैं। भय एक ऐसा भाव है, जिसे हमेशा अस्वीकार ही करना चाहिए, क्योंकि भय, भय के विषय को आकर्षित करता है।

भय के कई कारण हो सकते हैं—बाह्य और आंतरिक। बाह्य भय परिस्थितिजन्य होता है, जिसका कारण प्रत्यक्ष होता है, जिससे सभी को स्वाभाविक रूप से भय लगता है, ताकि हम उस परिस्थिति से निपटने के लिए तैयार हो जाएँ। किंतु आंतरिक भय प्रायः काल्पनिक होता है, जो अज्ञान से उत्पन्न होता है। बाहरी भय की अपेक्षा आंतरिक भय अधिक घातक होता है, क्योंकि बाहरी भय के कारण प्रत्यक्ष होते हैं, इसलिए हम सतर्क हो जाते हैं। कई बार बाह्य भय के समाधान हेतु हमें सहायता भी मिल जाती है, किंतु आंतरिक भय अप्रत्यक्ष होता है, काल्पनिक होता है, जो व्यक्ति को अंदर ही अंदर खोखला कर देता है।

वास्तव में भय एक प्रकार की मनोव्यथा है, जो अज्ञान से आती है। हमारे जीवन के ऐसे बहुत से आयाम हैं, जिनसे हम पूर्णतया परिचित नहीं हैं और उनसे हमारा यह अपरिचय ही अनजाने भय को जन्म देता है। भय के अन्य कारणों में से एक कारण है—स्वयं को अनावश्यक ही असुरक्षित अनुभव करना। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें अपनी सुरक्षा की चिंता बहुत अधिक रहती है और यह चिंता इनके मन में भय को जन्म देती है। वे व्यर्थ ही अनेकों तरह की चिंताएँ पाले रहते हैं और अनेकों तरह की नकारात्मक कल्पनाएँ करते रहते हैं।

इन व्यर्थ चिंताओं का मुख्य कारण है—उनका स्वयं पर अविश्वास। विश्वास के अभाव में ही चिंता उत्पन्न होती है और चिंता से उत्पन्न होता है डर। ऐसे लोगों को अपने आप पर विश्वास नहीं होता। सबसे मुख्य बात तो यह है कि ऐसे लोगों को भगवान पर भी सहज विश्वास नहीं होता; जबकि ईश्वरविश्वास हमें एक आंतरिक सुरक्षा प्रदान करता है। जिन्हें भगवान पर विश्वास होता है, वे सदा परमात्मा का संरक्षण अनुभव करते हैं और उनका यह ईश्वरविश्वास ही उन्हें एक प्रकार की मानसिक सुरक्षा प्रदान करता है।

ऐसे लोग इस विश्वास के साथ जीते हैं कि जीवन की हर परिस्थिति में भगवान उनके साथ हैं और उनकी कृपा से जो कुछ भी होगा, अच्छा ही होगा। यह विश्वास उन्हें मानसिक सुरक्षा व शक्ति प्रदान करता है, जिसके बल पर वे अपने जीवन की हर विषम परिस्थिति का सामना करने में सक्षम होते हैं, किंतु जो व्यक्ति ईश्वरीय चेतना पर अविश्वास करते हैं, उनका स्वयं पर विश्वास भी अहंकार से प्रेरित होता है। वे यह मान बैठते हैं कि वे सब कुछ कर सकते हैं और इस अभिमानवश वे किसी से सहायता भी नहीं लेते, जिसके कारण वे प्रायः अकेले रह जाते हैं। उनके जीवन का यह अकेलापन ही उनमें चिंता, भय, तनाव, अवसाद आदि अनेक तरह की मानसिक समस्याओं को जन्म देता है।

हमें जीवन में जो भी कुछ मिला है उसे खोने का डर हमारे जीवन की अन्य समस्या है। हम जीवन में बहुत कुछ पाना चाहते हैं और जो हमारे पास है, उसे यथावत्

बनाए रखना चाहते हैं, किंतु हम हमेशा यह भूल जाते हैं कि यह संसार नश्वर है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु नश्वर है। जिसकी उत्पत्ति हुई है, उसका नाश भी होगा, किंतु हम अपने स्वार्थ और मोहवश इन सबसे चिपके रहते हैं और यह मोह ही हमारे भय का प्रमुख कारण है। जहाँ लोभ होगा, वहाँ भय भी होगा। हमारी संस्कृति हमें त्याग करना सिखाती है; क्योंकि जहाँ पर त्याग है, वहाँ लोभ नहीं और जहाँ लोभ नहीं, वहाँ भय नहीं।

सुख व शांतिपूर्वक जीवनयापन करने के लिए, जीवन में विकास करने के लिए हमें भयमुक्त होना ही होगा। हमारे अधिकतर भय काल्पनिक होते हैं, जो हमारी नकारात्मक सोच का परिणाम होते हैं। निरंतर नकारात्मक सोच व्यक्ति को भयभीत बना देती है। ऐसे व्यक्ति के मन में हमेशा एक अनजाना भय बना ही रहता है और वह व्यक्ति अकारण ही डरता रहता है। ऐसा व्यक्ति चाहकर भी अपने आप को भयमुक्त नहीं कर पाता; क्योंकि वह यह समझ ही नहीं पाता कि उसके भय का मूल कारण क्या है और यदि किसी तरह वह यह जान भी जाए तब उसे क्या करना है, इससे वह अनभिज्ञ रहता है। ऐसे व्यक्ति प्रायः परिस्थितियों से भागने लगते हैं, पलायन करने लगते हैं, किंतु ऐसा करके भी वे भयमुक्त नहीं हो पाते; क्योंकि उनका भय तो उनके मन में ही बसा है। हम परिस्थितियों से तो भाग सकते हैं, किंतु अपने मन से कहाँ तक भाग पाएँगे !

मृत्यु का भय सब प्रकार के भयों में सबसे अधिक सूक्ष्म होता है। उसकी जड़ें अचेतन तक में गहरी बैठी होती हैं और वहाँ से उन्हें हटा पाना आसान नहीं होता। मृत्यु जीवन का एक शाश्वत सत्य है और मृत्यु पर विजय पाना संभव नहीं है, पर इस सत्य के साथ यह भी सत्य है कि सही सोच व सकारात्मक दृष्टिकोण के साथ मृत्यु के प्रति अपने नजरिये में बदलाव ला पाना संभव है। स्वयं भय ही इस मार्ग में एक बड़ी बाधा है।

इस भय से छुटकारा पाने का एक उपाय तो यह है कि हम यह जान लें कि जीवन अविभाज्य और अमर है, बस, उसके रूप अनगिनत होते हैं और वे रूप ही क्षणिक तथा नाशवान होते हैं। इस तरह से जीवन का नाश तो नहीं होता, रूप अवश्य परिवर्तित हो जाता है और शारीरिक चेतना इसी परिवर्तन से भय खाती है। भगवान श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन को यही ज्ञान देते हुए कहते हैं—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

—श्रीमद्भगवद्गीता २/१३

अर्थात जैसे जीवात्मा की इस देह में बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है; उस विषय में धीर पुरुष मोहित नहीं होता अर्थात मृत्यु से भयभीत नहीं होता।

तर्क-बुद्धि हमें यह सिखाती है कि जिस चीज से बचा नहीं जा सकता, उससे डरना मूर्खता है। उपाय यही है कि मृत्यु को सृष्टि का एक शाश्वत सत्य समझकर स्वीकार कर लिया जाए और दिन-प्रतिदिन, क्षण-प्रतिक्षण शुभ कर्म करने में निरत रहा जाए। जो अच्छे-से-अच्छा कर सकते हैं, हम वही करें और इसकी चिंता न करें कि आगे क्या होगा। जो भावनाशील हैं, उन्हें यह स्वाभाविक रूप से विश्वास होता है कि उनके जीवन की सभी घटनाएँ भगवद्इच्छा की अभिव्यक्ति हैं। इन घटनाओं को एक शांत समर्पित भाव से ही नहीं, बल्कि कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए और यह विश्वास रखना चाहिए कि जो कुछ भी उनके साथ घटता है, वह सदा ही उनके भले के लिए होता है। यह विश्वास ही उन्हें समस्त भयों से मुक्त कर देगा।

मनुष्य के जीवन की श्रेष्ठता इसी सत्य में है कि हम अपने जीवन की सभी शुभ संभावनाओं को साकार रूप देने में सक्षम हो पाएँ। भय चाहे बाह्य हो अथवा आंतरिक, वह हमें अपने जीवन की इस प्रगति से सदा वंचित रखता है। नकारात्मक सोच अनावश्यक चिंताओं को जन्म देती है और यही चिंताएँ धीरे-धीरे भयावह भय का रूप धारण कर लेती हैं, जो हमारे व्यक्तित्व पर ग्रहण की तरह से छा जाता है।

भय से मुक्त जीवन जीने के लिए हमें सबसे पहले अपनी सोच को बदलना होगा। यदि महान व्यक्तित्व के जीवन को पढ़ा जाए तो यह देखने को मिलता है कि महामानवों ने अपने जीवन में सदा सही सोच, आत्मविश्वास और ईश्वरविश्वास जैसे सद्गुणों को प्रश्रय दिया तथा उसी कारण वे अपने जीवन में उन ऊँचाइयों को प्राप्त कर पाने में सक्षम हो सके। सकारात्मक सोच, भगवत् आस्था, जागरूकता और सद्ज्ञान ऐसे साधन हैं, जिन्हें अपने जीवन में अपनाकर समस्त भयों से मुक्त हुआ जा सकता है।

लोभ का दुष्परिणाम

डे ब्रोडा की आँखों में वह चमक नहीं थी, जो पहले हुआ करती थी। उसकी आँखों में थके हुए जीवन का एक भारी बोझ स्पष्ट दीखता था। जर्जर बुढ़ापे से शरीर थक गया था। उसके चेहरे पर उम्र की झुर्रियाँ खंडहरनुमा भग्नावेश का संकेत दे रही थीं। मन भी बड़ा असहाय था। जीने की उम्मीद घट जाने से मन में उमंग एवं उत्साह शिथिल पड़ चुके थे। वह अकेला था। परिवार के अधिकतम सदस्य जर्मनी के टीर हिल के प्रसिद्ध युद्ध में मर चुके थे। जो बचे थे, उन्होंने अपना-अपना बसेरा बना लिया था। ब्रोडा अकेला था, उसके कोई संबंधी नहीं थे। अत: उसकी भावनाएँ खंडहर के सूखे पत्तों के समान कभी-कभी अपने अतीत की यादों में पनाह ले लेती थीं।

ब्रोडा की बूढ़ी आँखें टीर हिल के युद्ध की कड़ुई यादों को नहीं देखना चाहती थीं, परंतु क्राइस्टवर्ग के उस खंडहरनुमा किले को निहारती रहती थीं। वह किला कभी अपने बेजोड़ सौंदर्य एवं भव्यता के लिए समस्त जर्मनी में विख्यात था। उसके वैभव की कथागाथा पूरे जर्मनी में गाई जाती थी। ड्यूनेडिन नगर के पास क्राइस्टवर्ग के इस किले को लोग देखने आते थे। चूँकि इस किले की कुछ अद्भुत चीजें सभी को आकर्षित करती थीं, इसलिए वहाँ पर भीड़ बनी रहती थी।

एक दिन ब्रोडा के पास एक युवा आया। ब्रोडा ने उससे कहा—"क्या तुम जानते हो कि इनसान की भाँति किले भी बूढ़े होते हैं? जब उनका समय चुक जाता है तो बुढ़ापे के समान वे भी खंडहरों का ढेर बन जाते हैं और उनके जीवन की वह भव्यता यादों में सिमटकर रह जाती है।"

डे ब्रोडा की बातों से युवा कुछ सोचने लगा, थोड़ी देर ठहरा और बिना जवाब दिए अपने गंतव्य की ओर मुड़ गया। ब्रोडा जोर से हँसा। उसके हँसने की प्रतिध्वनि उस खंडहर में गूँजने लगी; क्योंकि वह किले की बगल में एक छोटी झोंपड़ी बनाकर रहता था। कार्य में अशक्त था, शरीर साथ नहीं देता था। किसी तरह से भीख की रोटियों से जीवन घिस रहा था। ब्रोडा बड़ा जुझारू था। वह जल्दी से हिम्मत हारने वालों में से नहीं था। किले में वह कुछ खोजता रहता था। क्या खोजता था, उसे स्वयं पता नहीं था, पर उसे लगता था कि क्राइस्टवर्ग के उस किले में अभी भी कुछ चीजें जीवंत हैं।

एक वर्ष बीत गया। डे ब्रोडा ने अपने जीवन की अंतिम यात्रा का पड़ाव वहीं डाल रखा था। ब्रोडा कई जगह सिलाई किए गए एक फटे हुए ओवरकोट से स्वयं को ठंढ से बचाता था। एक दिन शाम को किले के खंडहर में भ्रमण करते हुए उसने दीवारों को ढकने वाली झाड़ियों में चमकती रोशनी देखी। उसने उत्सुकतावश झाड़ियाँ हटाकर देखा तो उसे नीचे जाता एक तहखाना नजर आया। ब्रोडा झाड़ियों को हटाकर उस तहखाने में उतर गया। तहखाने में एक कमरा था, उसमें एक मेज रखी दीखी, जिस पर मटमैला धूल से भरा एक बड़ा-सा पात्र था, जिसमें सोने की अशरफियाँ चमक रही थीं। ब्रोडा ने देखा वहाँ कोई नहीं था तो वह सोने की अशरफियों को उठाने लगा।

जैसे ही उसने अशरफियों को ले जाने का प्रयास किया कि उसे एक आवाज आई, जो उसे संबोधित करते हुए बोली—"ब्रोडा! ज्यादा लोभ अच्छा नहीं। यहाँ का एक नियम है कि तुम दिन में एक बार ही यहाँ आ सकते हो और एक बार में एक सोने की अशरफी ही साथ ले जा सकते हो।" धीरे-धीरे वह आवाज पास आने लगी। ब्रोडा ने ध्यान से देखा तो उसे एक वृद्ध व्यक्ति दिखाई पड़ा, जिसने अभी उसे यह चेतावनी दी थी। ब्रोडा ने सोने का एक सिक्का उठाया और बाहर निकलकर अपनी झोंपड़ी में आ गया।

झोंपड़ी वही थी, परंतु ब्रोडा की आँखों में चमक जाग गई थी। कई सालों बाद तो आज उसके साथ ऐसी घटना घटी थी। आज उसकी आँखों में नींद नहीं थी, बल्कि उसकी खुली आँखों में सपने तैर रहे थे और उसके मस्तिष्क में योजनाएँ बन रहीं थीं। ब्रोडा बिस्तर पर करवटें बदल रहा था; क्योंकि उसका अंतर्मन अगले

दिन मिलने वाली अशरफी को पाने के लिए बेचैन था। रात ऐसी ही उधेड़-बुन में गुजर गई।

ब्रोडा ने दूसरे दिन किले के तहखाने में पहुँचकर फिर से एक अशरफी उठाई और चल दिया। किले का वही वृद्ध फिर से मुस्कराया और बोला—"ब्रोडा! अब तो हम दोनों प्रतिदिन मिला करेंगे। क्यों है न? पर तुम्हें यहाँ आना भी जल्दी है और यहाँ से जाना भी जल्दी है। मेरे पास बहुत समय है। चाहो तो बैठकर बातें कर सकते हो।" इसके पहले ब्रोडा भी तो खाली था, समय ही समय था उसके पास, पर अब वह व्यस्त हो चुका था, उसके सपने जो जाग गए थे। धन का नशा होता ही ऐसा है। वह भूल गया था कि यह उसके जीवन का अंतिम पड़ाव है।

ब्रोडा प्रतिदिन किले में जाता और एक सोने की अशरफी लेकर वापस अपनी झोंपड़ी में आ जाता। उसका भीख माँगना बंद हो गया था। एक दिन ढेर सारी अशरफियों के साथ वह सोने की दुकान में पहुँच गया। सोचा कि उनके बदले में वह जर्मन मुद्रा ले लेगा। चूँकि अशरफियाँ पुरानी थीं और उनकी चमक सामान्य सोने की चमक से कहीं अधिक थी, इसलिए दुकानदार ने जिज्ञासा प्रकट की और पूछा—"ब्रोडा! आपको ये दुर्लभ अशरफियाँ कहाँ से मिलीं, आप कहाँ से इन्हें लाए, क्या आप हमें वहाँ ले जा सकते हैं?" ब्रोडा ये प्रश्न सुनकर घबरा गया और बोला—"मुझे इस बारे में कुछ नहीं पता। आप तो बस, इनके बदले में मुझे मुद्रा प्रदान करें।" यह सुनकर दुकानदार बोला—"नहीं ब्रोडा! बिना सरकार को सूचना दिए मैं तुम्हें कुछ दे पाने की स्थिति में नहीं हूँ। तुम यहीं रुको, मैं अभी पुलिस को यहीं बुलवाता हूँ।"

ब्रोडा परिस्थिति को भाँपकर वहाँ से उठा और सीधा भागने लगा। उसे भागते देख आस-पास के लोग भी उत्सुकतावश उसका पीछा करने लगे। उनमें से कुछ को दुकानदार से अशरफियों के संदर्भ में पता चला तो भीड़ की संख्या और भी बढ़ गई।

ब्रोडा का बूढ़ा शरीर भला कितना भाग पाता। वह थक गया था। आँखों के सामने सोने की चमक के स्थान पर अँधेरा एवं भय व्याप्त हो गया था। वह एक खंभे से टकराया और गिर पड़ा। उसके हाथों से अशरफियाँ गिरकर सड़क पर बिखर गईं। भीड़ उसे छोड़कर अशरफियों के पीछे लपकी। बहुत देर तक उनके बीच अशरफियों के लिए मारा-मारी चलती रही।

जब भीड़ छँटने लगी तब किसी का ध्यान घायल ब्रोडा पर गया। तब तक ब्रोडा किसी और पड़ाव के लिए प्रस्थान कर चुका था। उसके लिए न सोना और न उसके बदले की मुद्रा किसी काम की रह गई थी। उसके सारे सपने पूरे होने से पहले ही समाप्त हो गए। यही जीवन है। पता नहीं किले के उस वृद्ध को कैसे पता चला ब्रोडा के बारे में। उसकी मुस्कराहट और भी गहरी हो गई। वह कोई और नहीं, एक प्रेतात्मा थी, जिसका हश्र भी ब्रोडा के समान हुआ था। वह अपनी मृत्यु के पश्चात उस तहखाने में पहुँच गया था और ब्रोडा के आगमन का इंतजार कर रहा था। लोभ का यही परिणाम होता है। ✿

अमावस्या की रात में दीपक ने देखा कि आकाश में न चाँद है और न तारे। बस, वह अकेला ही संसार को प्रकाश दे रहा है। अपने इस पराक्रम पर उसको अभिमान हो गया और वह समस्त संसार को संबोधित करता हुआ बोला—"जरा मेरी महिमा तो देखो! मेरी ही कृपा से तुम सब तुच्छ प्राणी अंधकार में कुछ देख पा रहे हो। मुझे प्रणाम करो, मेरी दयालुता का गुणगान करो।"

दीपक की इस अहंकारोक्ति को बाकी सबने महत्त्व न दिया, परंतु एक जुगनू से न रहा गया और वह बोला—"एक रात के अस्तित्व पर इतना अहंकार। तनिक ठहरो, प्रभात होने पर तुमसे तुम्हारी वास्तविकता पूछूँगा।" अधिकार पाकर किसी को मदांध नहीं हो जाना चाहिए।

शाश्वत संपदा है तप व पुण्य

तप व पुण्य, दोनों ही संपदाएँ हैं। संपदा वह होती है, जो अर्जित की जाती है। तप व पुण्य, दोनों ही संपदाएँ मनुष्य की आंतरिक निधियाँ हैं, लेकिन इन दोनों की भूमिका उसके जीवन में अलग-अलग है। तप से शक्ति प्राप्त होती है, जो ऊर्जा में रूपांतरित होती है; जबकि पुण्य से जीवात्मा प्रकाशित होती है और उससे व्यक्ति के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण होता है। पुण्य का रूपांतरण ऊर्जा के रूप में नहीं, परिस्थितियों के रूप में होता है। इस तरह तप व पुण्य, दोनों का अलग-अलग महत्त्व है। इस सृष्टि में कुछ भी कार्य करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। शक्तिहीन कुछ भी करने में असमर्थ होता है और शक्तिमान कुछ भी करने का साहस रखता है।

तप व पुण्य की संपदा ऐसी है, जो जीवात्मा के साथ सदैव रहती है, पंचभौतिक शरीर रहने पर भी और न रहने पर भी। इस संसार में अर्जित किया गया धन स्थूलशरीर के छूटने पर इस संसार में ही रह जाता है। धन के स्थूल स्वरूप में वह सामर्थ्य नहीं कि शरीर छूटने पर वह मनुष्य के साथ जा सके। जीवात्मा का स्वरूप सूक्ष्म होता है, उसके साथ सूक्ष्म चीजें ही जा सकती हैं। पुण्य व तप-संपदा का स्वरूप सूक्ष्म होता है। उसके चित्त में रहने वाले संस्कार भी सूक्ष्म होते हैं। अत: जीवात्मा अपने साथ अपने कर्म-संस्कारों, अर्जित तप व पुण्य-संपदा को लेकर जाती है, लेकिन इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण संपदा तप व पुण्य ही होते हैं।

तप-संपदा के माध्यम से जीवात्मा इस सृष्टि में कुछ भी कर सकती है, लेकिन उस कार्य के अनुरूप उसके पास तप-पूँजी भी होनी चाहिए, तभी वह उस कार्य को संपन्न कर सकती है। पुण्य-संपदा के माध्यम से जीवात्मा प्रकाशित होती है, उसका प्रकाश इस संसार में यश-सम्मान, सफलता आदि के रूप में दीखता है, उसके लिए अनुकूल परिस्थितियाँ स्वत: निर्मित होने लगती हैं। पुण्य का प्रकाश जीवात्मा को इस संसार में यश दिलाता है तो अन्य लोगों में भी वह सम्मान का पात्र बनता है; जबकि तप-संपदा से वह इस सृष्टि में अपनी संचित तप-ऊर्जा से कुछ भी करने में समर्थ होता है। तप के माध्यम से व्यक्ति को यश नहीं मिलता, यह मिलता है पुण्यों के माध्यम से। इस तरह यदि तप सहनशीलता का नाम है तो पुण्य सुगंधित होने का नाम है।

तप के कई स्वरूप हैं। गायत्री महाविज्ञान में परम पूज्य गुरुदेव ने १२ प्रकार के तपों का वर्णन किया है—१. अस्वाद तप, २. तितिक्षा तप, ३. कर्षण तप, ४. उपवास तप, ५. गव्य कल्प तप, ६. प्रदातव्य तप, ७. निष्कासन तप, ८. साधना तप, ९. ब्रह्मचर्य तप, १०. चांद्रायण तप, ११. मौन तप तथा १२. अर्जन तप। इन सभी प्रकार के तप के स्वरूपों में शरीर व मन को कष्ट उठाना पड़ता है। जिस तरह पानी को उबालने के लिए उसे आग पर गरम करना होता है, उसी तरह तप में भी व्यक्ति को तपना होता है, गलना होता है, ढलना होता है। तप कष्ट सहन करने का दूसरा नाम है।

तप के विभिन्न प्रकारों को तीन स्वरूपों में विभक्त किया जा सकता है—१. परिशोधन तप, २. अर्जन तप, ३. परम तप। परिशोधन तप वह है, जिसमें व्यक्ति अपने चित्त का परिशोधन करके उसका परिष्कार करता है। अर्जन तप वह है, जिसमें व्यक्ति तप-ऊर्जा को धारण करता है और उसे अपने अंदर संचित करता है। सबसे विशिष्ट तप परम तप है। यह उच्चस्तरीय व विशिष्ट प्रयोजन के लिए होने के कारण अपेक्षाकृत अधिक गुह्य और गहन है। इसका प्रयोग व्यक्तिगत प्रयोजन के लिए न होकर समष्टिगत प्रयोजनों के लिए होता है। यह तप का सर्वाधिक विकसित स्वरूप है।

परम तप ही वह आध्यात्मिक तप है, जिसके माध्यम से जीवात्मा अंतरिक्ष के ऊर्जा-स्रोतों को अपनी ओर मोड़ लेती है, ऊर्जा के विभिन्न स्वरूपों को धारण करती है और इच्छानुसार उनका सदुपयोग करती है। अंतरिक्षीय ऊर्जा-स्रोत नदियों के प्रवाह की तरह होते हैं। इनका प्रवाह अत्यंत ही वेगपूर्ण व ऊर्जा से भरपूर होता है और इनको धारण करना भी सरल व आसान नहीं है। इसके

लिए शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक दृष्टि से सशक्त होना भी जरूरी है।

सामान्यत: सभी प्रकार के तप करने का एक ही उद्देश्य होता है कि चित्त की वृत्तियों व कर्मसंस्कारों का परिशोधन हो। जैसे-जैसे जीवात्मा के ऊपर से चित्त के कुसंस्कारों का आवरण हटता जाता है, उसके अंदर ऊर्जा को धारण व संगृहीत करने की क्षमता पैदा होने लगती है और जब जीवात्मा के चित्त में छाए हुए सभी तरह के संस्कारों का परिशोधन व परिष्कार हो जाता है, तब चित्त स्फटिक की तरह निर्मल व स्वच्छ बन जाता है। तभी जीवात्मा परम तप के योग्य बनती है।

परम तप का अनुपम उदाहरण श्रीअरविंद व रमण महर्षि का तप है, जिसके माध्यम से उन्होंने सूक्ष्मजगत में हलचलें पैदा कीं, स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए लोगों में चेतना को जाग्रत किया और देश को स्वतंत्र कराने के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण किया। मनुष्य का कार्यक्षेत्र केवल एक निर्धारित स्थल ही नहीं, अपितु संपूर्ण ब्रह्मांड है, जिसमें वह अपनी योग्यता के अनुसार कार्य कर पाता है। ठीक इसी तरह श्रीअरविंद जब पांडिचेरी आश्रम में रहते थे, तब उन्होंने अपने तपोबल के द्वारा पांडिचेरी में रहकर ही द्वितीय विश्वयुद्ध को समाप्त करने के लिए आसुरी शक्तियों को पराजित किया था और इसके प्रभाव से ऐसी परिस्थितियाँ स्थूलजगत में स्वत: ही उत्पन्न हो गई थीं, जिससे युद्ध में अग्रणी देशों को अपने पाँव पीछे करने पड़े और युद्ध को विराम देना पड़ा।

परमपूज्य गुरुदेव ने भी अपने परम तप के द्वारा अर्जित ऊर्जा के माध्यम से अनेकों ऐसी विभीषिकाओं को होने से रोका था, जिनके घटने पर संपूर्ण मानव जाति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता था। इसके अतिरिक्त युग निर्माण हेतु बड़ा उत्तरदायित्व भी आचार्यश्री ने इसी परम तप से संगृहीत ऊर्जा के कारण वहन किया। उन्होंने अपने सूक्ष्मशरीर से तप करके युग निर्माण हेतु अपेक्षित शक्ति को अर्जित किया, जिसके परिणाम निश्चित रूप से स्थूलजगत में धीरे-धीरे परिलक्षित होने लगेंगे।

तप ऐसी साधना है, जो आरंभ में तो कष्टकारी लगती है, लेकिन इसके सुपरिणाम मिलने पर व्यक्ति को इतना आनंद आता है कि वह इसे अपने जीवन का एक अभिन्न अंग बना लेता है। जो तप को अपने जीवन का अंग नहीं बना पाते, वे अपने जीवन में कुछ विशेष अर्जित नहीं कर पाते। इस तरह तप का अपना विशिष्ट स्थान है। इसलिए मनुष्य को निरंतर किसी न किसी रूप में तप करते रहना चाहिए। मौन, एकांत व एकाग्रता ही तप का दूसरा नाम है; क्योंकि इसके माध्यम से तप को अर्जित किया जाता है। तप हेतु की गई साधनाओं की चर्चा वर्जित है, अन्यथा उसके द्वारा तप-संपदा संचित नहीं होती, खरच हो जाती है—नाम व यश के रूप में।

साधना करने वालों को लोग सम्मान देते हैं, उन्हें बड़ा तपस्वी मानते हैं। इस तरह साधना करने के कारण उन्हें जो सम्मान मिलता है, वह तप द्वारा अर्जित संपदा का ही परिणाम है, जिसका यश-सम्मान के रूप में भुगतान हो जाता है। इसलिए साधना के संदर्भ में मौन रहकर केवल साधना ही करना चाहिए। एकांत इसके लिए अत्यंत जरूरी है, अन्यथा मन को एकाग्र करना संभव न होगा और एकाग्रता के बिना साधना का कोई सुफल नहीं। जो जितना एकाग्र होता है, वह उतनी ही गहराई में जाकर साधना के हीरे-मोतियों को गोता लगाकर ढूँढ़ लाता है।

इस तरह तप की महिमा अनंत एवं अपार है। इसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। उसी तरह पुण्य की भी बहुत महिमा है। पुण्य अर्जन करने के लिए व्यक्ति को सहृदयवान बनना पड़ता है। दूसरों की पीड़ा को समझना होता है, उनकी मदद के लिए आगे आना होता है। जो हृदय की भावनाओं से दूसरों के लिए अपने मन में अपनत्व का भाव रखते हैं, दुखी व्यक्तियों की पीड़ाओं को दूर करते हैं, मदद हेतु आगे बढ़ते हैं और सत्कर्मों में सदैव लगे रहते हैं; ऐसे व्यक्ति पुण्यात्मा होते हैं। धार्मिक अनुष्ठान, कर्मकांड की क्रियाएँ भी व्यक्ति के पुण्य में वृद्धि करती हैं। पुण्य के अंतर्गत वे सभी प्रकार के कर्म व क्रियाएँ आती हैं, जो मनुष्य की जीवात्मा के प्रकाश को बढ़ाती हैं और उसके अंदर छाए हुए अंधकार को दूर करती हैं।

लेकिन तप व पुण्य अर्जन की इस क्रिया में सबसे बाधक तत्त्व अहंकार है, जो कि अतिशीघ्रता से तप व पुण्य की पूँजी का क्षय करता है। मनुष्य का जीवन इस सृष्टिरूपी महासागर में एक बुलबुले की तरह है, जिसका अस्तित्व क्षणिक है, किंतु तप व पुण्य ही वे संपदाएँ हैं, जो उसे यश व कीर्ति के माध्यम से सदा अमर रखती हैं, अत: अहंकारशून्य होकर इनका अर्जन ही हमारा एकमात्र कर्त्तव्य होना चाहिए। ❀

कवियों का वसंत

वसंत को यों ही ऋतुराज नहीं कहते, इसकी अनुभूति से, इसके एहसास से, इसकी छुअन से कितने ही कवियों के अंतर्मन में कविता की नवकोंपलें फूटी हैं। जरा देखो तो सही! मालकौस की ठंढी रागिनी चीर कर खिलने लगा हिंडौल का रंग। मन की धरती पर उतरने लगी वसंत की धूप। पीले जादू से महकने लगा मनमोर। एक तितली अपने रंगीले पंखों में समेट लाई वसंत ऋतु का आसमान। सरसों के खेत में दूर-दूर तक बिछे पीत आमंत्रण। धरा की नयन-कोर में काँपता मधुमय क्षण। शिशिर की लंबी काली रात के बाद ये कौन आया है, प्राची के पथ से? जो लिख रहा है सुगंधों का वैभव। कौन...कौन हैं, जो भर रहे हैं दिशा-दिशा में मधुछंद? मधुप की मधुर इस गुनगुन ने न जाने कितने कवियों को आमंत्रित किया है, कालिदास,. प्रसाद, विद्यापति, नजीर, वड्र्सवर्थ और भी न जाने कितने-कितने।

इन कितनों में कुछ कवियों की कविता-किरणों को अंजलि में सहेजने का मन हो आया है। कहाँ से शुरू करें, वासंतिक सृजन की सीमा तो ठहरी असीम। फिर भी कहीं न कहीं से शुरुआत तो करनी है, तो फिर कवियों के गुरु महाकवि कालिदास से क्यों नहीं? कालिदास की कविता तो देववाणी संस्कृत का शृंगार है। कालिदास के यहाँ हर ऋतु का रंग है, लेकिन उनकी रचनाओं में वसंत की श्री व शोभा कुछ अनूठी ही है। अभिज्ञानशाकुंतलम् की वो नायिका, जो कण्व की पोषिता है, जो प्रकृति से उपजी है, जिसे प्रकृति ने पाला है, जो प्रकृति का शृंगार रचाए है, जो प्रकृति के बीच प्रकृति को दुलार रही है। अभिज्ञान के पन्नों में आज भी केसर वृक्ष के पास शांत खड़ी वो मृगशावक को दुलराती हुई दिखाई पड़ती है। केसर वृक्ष की कोमल टहनियाँ जैसे भुजाएँ हैं। ओंठों की लालिमा में किसलय की रक्तिमा है और वल्कावृत तन ऐसा, जैसे सिवार से लिपटा कमल। ऋषिकन्या को देखकर राजा दुष्यंत की वही दशा है, जो मधुमास में भ्रमर की होती है। प्रातःकालीन तुषार भरे इस कुंद पुष्प का वह न तो मकरंद पान कर सकता है और न उसे छोड़कर जा सकता है।

भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं नय
खलु परिभोक्ताम् नैव शक्नोतु हातुम।

इस वासंती सज-धज को देखकर दुष्यंत भ्रमित है—यह वाकई कन्या है या स्वयं वसंत? मधुमासदर्शनम् और कुमारसंभव में शिवप्रिया पार्वती... किरण रूपी उँगलियों से रात के काले केश हटाकर अभी-अभी जागा है दिनकर। भगवती पार्वती ने जैसे अरुणकालीन दिनकर को ही परिधान बनाकर धारण कर लिया है। पूजन के लिए बढ़ रहे दो सुकुमार चरण ऐसे लग रहे हैं, जैसे नवविकसित पल्लवों को धारण करने वाली कोई वासंती लता चली जा रही हो।

रघुवंशम् में गंगा व यमुना का यह प्रवाह भी दृष्टव्य है। लगता है जैसे श्वेतकमल के बीच नीलकमल पिरो दिए गए हों। कालिदास के काव्य में कण्वकन्या शकुंतला, शिवप्रिया पार्वती, यक्षप्रिया रूपोत्तमा, सभी नायिकाएँ वसंत हैं। ये सब वसंतरूपा प्रकृतिपुत्रियाँ हैं। कालिदास को वसंत इतना अधिक प्रिय है कि वे कहते हैं—**सर्वाप्रिये चारूतरं वसन्ते** अर्थात वह सर्वप्रिय ऋतु वसंत है। इसी के साथ वह यह भी कहते हैं—**जीवित सत्यं वसन्त मासस्य** संसार का सबसे बड़ा जीवित सत्य और कुछ नहीं बस, वसंत है।

कालिदास के काव्य की कुछ आभा वड्र्सवर्थ में भी कहीं न कहीं है। 'लिरिकलवैलेड्स' का लेखक, अँगरेजी कविता का प्रिय पात्र 'लूसी' का सृजेता। उसे कुछ भी सूझ नहीं पा रहा, क्या करें, क्या न करें, क्या कविता लिखें? सामने शब्द और कथ्य बिखरे पड़े हैं। उसे तो बस, समेटकर कागज पर रख देना है। घर, खेत, बगीचे, पेड़ों की ऊँची चोटियाँ और वाय नदी की कलकल स्मॉलवुड और कॉप्सवुड खोए से खड़े हैं। आँखें हैज की पत्तियों पर ठहरती हैं, जो हैज जैसी लगती ही नहीं। सब कुछ कितना सुखद है, लेकिन वह खुद जरा भी सुखी नहीं है। लगता है जैसे दुनिया से कोई आनंद छिन गया हो...**देयर हैथ पास्ड अवे दि ग्लोरी फ्राम दि अर्थ।** लेकिन सम्मुख वसंत का सुहानापन देखकर उसे खुद

पर क्षोभ उमड़ आया—क्यों मैं इस उल्लसित ऋतु को अवसाद से भर रहा हूँ। फिर उसने अपनी बहन डोरथी को देखा तो कह उठा—ओ बहना तू जी भर उस ऋतु को जी ले। चाँदनी रातों में हलकी धुंध से ढके इन पर्वतों पर विचरने वाली हवा से दोस्ती कर। इन मधुर ध्वनियों को स्मृति में सहेजती जा।

वसंत के सौंदर्य से कवि गुरु रवींद्रनाथ टैगोर अभिभूत हैं। कहते हैं जिस दिन प्रकृति ने धरती रची, उसी दिन प्रेम रचा और वसंत ऋतु भी रची होगी। फिर उसके बाद प्रकृति के सारे सुर व रंग जुगलबंदी करते दीखे तो लोगों ने उन्हें वसंत कह दिया। फिर ऋतुओं ने अपना गीत लिखना चाहा तो कुछ लिखा नहीं, बस, वसंत को अपना गीत कह लिया; क्योंकि उससे सुंदर छंद उनके पास था ही नहीं। उन छंदों को शब्द एंवं भाव ओढ़ने का मन हुआ तो उन्होंने कवि गुरु रवींद्रनाथ टैगोर का हाथ थाम लिया। गुरुदेव टैगोर ने उन्हें काव्यमय महानता का संस्पर्श दिया और आवाज लगाई—

'ओरे गृहो बाशी,
खोल दार खोल लागलो जे डोल रंगा हाशी,
राशि राशि अशोके पलाशे... बेनू बाउनो,
मौरे मोर देखिनो बताशे...
प्रोजा पौथी डोले धाशे धारो,
मौमाची फिरे जाथी फुलेरो दोखिना...
मधेबी बिथाने बायू गांधे विमाले,
दार खोल दार खोल..।'

ऐ लोगों द्वार खोलो, देखो वसंत कोलाहल कर रहा है। अशोक, पलाश के फूलों पर हँसी बिखरी है। जंगल की दक्षिणी हवाओं के साथ बाँसुरी की धुन गूँज रही है..., तितलियाँ घास पर नृत्य कर रही हैं..., मधुमक्खियाँ अपने पंखों से वीणा की धुन बजाती फूलों की ओर लौट रही हैं..., माघोषी के फूल गा रहे हैं द्वार खोलो, द्वार खोलो।

वसंत सिर्फ वड्र्सवर्थ की तरह टैगोर के गीतों में नहीं उतरता। हॉकिन्स धर्म, रहस्यवाद और ईश्वर, प्रकृति के विशिष्ट संबंधों पर कविता रचते हैं। शैली वसंत को काल्पनिक जीवनशक्ति देते हैं, कीट्स बिंबो से समृद्ध करते हैं, लेकिन टैगोर इन सबका संगम कर अध्यात्म और अद्भुत आनंद से अनुप्राणित करते हैं। कवि पावलो नेरूदा उम्मीद को कभी ओझल नहीं होने देते। वह कहते हैं कि भले ही सारे के सारे फूल कोई तोड़ ले, लेकिन वसंत को आने से कोई कैसे रोकेगा। लेकिन टैगोर के वसंत में प्रकृति की पृष्ठपट या अचेतन की-सी उपस्थिति नहीं रहती, बल्कि उसमें मनुष्य की साँस रहती है, प्राण रहते हैं। वह कहते हैं—जाने से पहले मैं जानना चाहता हूँ कि हरी पृथ्वी आकाश की ओर क्यों निहारती रहती है। वह मुझे अपनी गोद में बुलाती है। प्रस्थान से पूर्व मैं अपने गीत को वरदान देना चाहता हूँ और अपने पात्र को सभी छह ऋतुओं के फलों-फूलों से भर लेना चाहता हूँ।

महाकवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' जिनका जन्म तो वसंत पंचमी को हुआ था, पर जीवन में हमेशा पतझड़ ही बनी रही। निरंतर के घात-प्रतिघात सहते हुए उन्होंने संयम व संवेदना नहीं खोई। तभी वह अपनी लेखनी से लिख सके—**अभी न होगा मेरा अंत/अभी तो आया है मेरे मन मृदुल वसंत..**। उनकी इसी वसंत आस्था ने उन्हें हमेशा अपराजेय बनाए रखा।

जयशंकर प्रसाद को तो जैसे वसंत की अनवरत प्रतीक्षा थी। तभी तो उन्होंने कहा—**पतझड़ था झाड़ खड़े थे, सूखे से फुलवारी में, किसलय दल कुसुम बिछाकर आए तुम इस क्यारी में...**। कवि सर्वेश्वर दयाल कुछ नए और अनूठे अंदाज में स्वागत करते हैं वसंत का। वह कहते हैं—**आए महंत वसंत, मखमल के झूले पड़े हाथी पाग पीला, चंवर सदृश डोल रहे सरसों केसर वसंत...**। मधुबन की उदास बीथियाँ बुहारता ऋतुराज रंग और गंध भरी कनखियों से कहीं कचनार की कलियों में रंग भरता है, तो कहीं खिलाता है चंपई फूल। इसे निहार कर खुदा के दीवाने, कृष्ण के अनुरागी आगरा के कवि नजीर कहते हैं—**मिलकर सनम से अपने हंगाम दिलकुशाई, हँसकर कहा ये हमने ए जां! वसंत आई।**

कवियों के छंदों में साकार होता हुआ वसंत कभी कहीं किसी की उदास याद में भी अपनी आहट दे देता है। कवि रघुवीर सहाय कहते हैं—**यह उदास मौसम और मन में कुछ टूटता सा/अनुभव से जानता हूँ वसंत है...**। वसंत की मनोहारी छाया, प्रकृति के कण-कण से निठुरे दिनों की याद धीरे-धीरे धूमिल कर देती है। फिर कोई नन्हीं चिड़िया झरबेरी पर बैठी धूप का टुकड़ा चुगते सबको जगाती है। इसे कवि जयदेव अपने शब्दों में कहते हैं—**छाया सरस वसंत विपिन में करते श्याम विहार/गोपीजनों के संग रास रच करते श्याम विहार।** ऋतु वसंत धरती के आँचल पर टके हर नन्हें बूटे को फलने-फूलने, पल्लवित होने की ऊर्जा प्रदान

करती है। कैकटस का कटीला पौधा हो या पलाश का ऊँचा पेड़। पठार के माथे सजी टेसुओं की बंदनवार हो या मैदानों में फूली, लहराती सरसों। वसंत की हिलोर सबको समभाव से दुलराती, गुदगुदाती गुजरती है। इसे देखकर शायर मीर कहते हैं—

यूं बार-एक गुल से अबके,
झुके हैं निहाल,
ए-बाग झुक-झुक के जैसे करते हैं,
दो-चार यार बात।

वसंत की बातें हर किसी ने अपने-अपने ढंग से की हैं। भारतभूमि के वसंत को पश्चिमी देशों ने स्प्रिंग नाम दिया है। स्प्रिंग जर्मन भाषा में मिलने वाला पुराना शब्द है। तकरीबन २००० साल पहले इसका मूल जर्मन स्वरूप था—स्प्रेंग, जो १००० साल बाद, यानी प्राचीन अँगरेजी के बोल-चाल वाले समय तक आते-आते स्प्रिइंग और स्प्रिंग बन गया। इस शब्द का अर्थ है—उछलता या भागता। यों देखें तो वसंत भागते हुए या एकदम से उछलकर नहीं आता। वर्षा और शीत के बाद धीरे से आता है। बिना आहट किए। दरअसल उस समय इस शब्द का प्रयोग पत्तों के गिरने 'स्प्रिंग ऑफ दि लीफ' के अर्थ में किया जाता था। मौसम का बदलता रूप-रंग और नया कलेवर अभिव्यक्त करने के साथ धीरे-धीरे यह शब्द मौसम के लिए ही रूढ़ हो गया। भाषा के बहाव के साथ मौसम का नाम ही स्प्रिंग पड़ गया। स्प्रिंग जिसके लिए कवि शेली ने कहा—**इफ विंटर हैज कम कैन स्प्रिंग बी फार बिहाइंड...** पतझड़ आया है तो क्या, प्रतीक्षा करो, वसंत भी आता ही होगा।

कवियों की कविता की कोंपलों के साथ इस वर्ष फिर से वसंत आ ही गया। उसके स्वागत में लेखनी यही लिख पा रही है.... हे नव आगत, तुम्हारे आगमन में अनेकों ने अनेकों पंक्तियाँ लिखी हैं, लेकिन तुम तो सदा ही जीवन की निष्क्रयता को अतिक्रमित कर लिखते रहे हो सक्रियता की रागिनी। तुम्हारे आगमन से मानव मन में जाग रही हैं आने की कल्पनाएँ, कामनाएँ। साथ ही जीवन में जाग रही हैं आनंद की रचनाएँ। जागती रही हैं और जाग रही हैं कवियों की कविताएँ। धरती पर जाग रही हैं रंगों और सुगंधों की रुत। शीत की निर्दयी ठिठुरन से वीरान हुए ये बलिदानी वृक्ष भी धीरे-धीरे जाग रहे हैं। तुम्हें कितनी आशा से निहार रहे हैं ये। शीत के भय से सहमी हुई धरती धानी हो उठी है। खेतों ने शृंगार रचाया है। पीली चूनर ओढ़कर सँवारा है स्वयं को। प्रकृति हर्षित है, पत्ता-पत्ता पुलकित है। जिधर भी देखो, उधर यत्र-तत्र-सर्वत्र आनंद ही आनंद छाया है। कोकिल का कूजन, मयूरों का नर्तन और भ्रमरदल का गुंजन, ये सब जैसे तुम्हारे स्वागत का मंगलगान है।

ये सभी मिलकर धरती के समस्त कवियों की कविताओं में स्वयं को घोलकर कह रहे हैं—आ गया ऋतुराज। ऋतुराज वसंत—कवियों का मन-मीत, साथ में हम सबका भी सखा। विश्व की सभी सभ्यताओं में गूँजता हुआ प्रेम और आनंदकाल। लोक से लेकर परलोक तक की यात्रा करता हुआ भाव। ये जो लोक है न, वो अपने विकास की परमगति परलोक में खोजता है और जो परलोक है, वो जीता है लोक की अनंत आस्था में। लोक और परलोक, दोनों एक साथ ऐसे गुँथे हैं कि इन्हें अलग करना असंभव है। जहाँ देखिए, वहीं लोक की पराकाष्ठा में परलोक का प्रकाश फूट रहा है। जहाँ तक बात ऋतुराज वसंत की है, तो उसमें लोक और परलोक का अटूट जुड़ाव है। इसके राग व रंग में, दोनों स्वत: समाये हैं।

वसंत के आगमन के साथ ही पतझड़ को परे झाड़ कर ये परंपराएँ, कवियों की कोमल कल्पनाएँ एक साथ न जाने कितने उत्सवों का आह्वान कर रही हैं। वसंत के साथ ही जीवन भावनाओं व उत्कंठाओं का मधुपान करके मदमत्त थिरकने लगा है। कुछ ऐसा कहते हुए पतझड़ और वसंत, कंठा व उत्कंठा, सुख व दु:ख, ये सब मन के खेल हैं। इस खेल में सदा वही जीता, जो अपने मन से कभी हारा नहीं। यह पतझड़-पथ मधुमासों का, यह संशय-पथ विश्वासों का, यह धरती-पथ आकाशों का। परंपरा का तो मतलब ही है, पर के भी परे, जो श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतम हो, जहाँ अमरत्व की चिरअभिलाषा हो और जीवन के सत्य की खोज जुड़ी हो। वसंत की बयार के साथ यही संदेश तो सदा मुखरित हो रहा है।

ऋतुराज वसंत न केवल कवियों की कविताओं में है, बल्कि इसके साथ तृषित मन की सभी आशाएँ जुड़ी हुई हैं। जीवन के आँगन में सदा सुख, समृद्धि और मंगल का प्रतीक बनकर यह युगों से उतरता रहा है। आनंद की वर्षा करना तो जैसे स्वभाव है उसका। सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् को यदि कहीं संपूर्णतया फलित होते देखा

जा सकता है तो बस यहीं। मन व जीवन को यह तब तक महकाता है, जब तक कि इसके रस से कोर-कोर, ओर-छोर न भीग जाए। सत्य यही है कि इसके बारे में कवियों ने जितना गाया, इस लेखनी ने जितना भी लिखा, वह सब कम है, अति अल्प है। वसंत तो शब्दातीत है। काव्यों व महाकाव्यों के अनंत भंडार भी कहाँ बाँध सके हैं इसे। जैसे-जैसे समय बीतेगा, अगले वर्ष और उसके अगले वर्ष वसंत की चर्चा में शब्दों का भंडार इस लेखनी के साथ कितनी ही और लेखनी से विस्तार पाएगा। अभी तो बस, इतना ही कहना है कि वसंत जीवन को आलिंगन में भरकर ढेर सारे प्यार, आनंद की वर्षा करता हुआ वसंत पंचमी के सूर्य के साथ देखो घर-आँगन-चौबारे को, गाँवों-नगरों को, हम सबके मन को कैसा वासंती किए जा रहा है।

राजा जनमेजय वेश बदलकर प्रजा की वास्तविक स्थिति, उसके सुख-दुःख को जानने हेतु प्रायः भ्रमण किया करते थे। इसी भ्रमण के दौरान एक बार उन्होंने देखा कि कुछ लड़के खेल रहे थे। शासक बना लड़का सभासदों से कह रहा था—"तुम जनमेजय के राज्याधिकारियों की तरह भोग-विलासपूर्ण जीवन जीना छोड़ दो, अन्यथा मैं तुम्हें सेवा से च्युत कर दूँगा। मैं प्रजा की हानि नहीं होने दूँगा।" राजा जनमेजय उस लड़के कुलेश से बहुत प्रभावित हुए और उसे ले जाकर महामंत्री बना दिया। वह लड़का अपने साथ अपनी कुदाली, लाठी व अँगोछा भी ले गया था।

कुलेश ने महामंत्री के रूप में अपने कार्यों से राजा व प्रजा, दोनों को प्रसन्न कर दिया, परंतु जिन सभासदों के विलासितापूर्ण जीवन पर अब रोक लग गई थी, वे कुलेश को अपदस्थ करने का षड्यंत्र करने लगे। सभासदों ने जनमेजय से कहा कि कुलेश ने अवैध संपत्ति जमा कर ली है। महाराज इनकी बातों पर विश्वास करके कुलेश के घर सैनिकों सहित तलाशी लेने पहुँच गए। बाहरी कमरे में उन्हें कोई संपत्ति नहीं दिखाई दी। तभी उन्हें अंदर वाला कमरा दिखाई दिया। उन्होंने कुलेश से पूछा—"तुमने इस अंदर वाले कमरे में क्या छिपाकर रखा है?" कुलेश राजा को कमरे के भीतर ले गया, वहाँ उसकी लाठी, कुदाली व अँगोछा रखा था। उसने कहा—"महाराज! मैं यहाँ इन तीनों वस्तुओं की पूजा करता हूँ, ताकि मुझे अपनी वास्तविकता याद रहे।" यह कहकर कुलेश अपनी तीनों वस्तुओं को लेकर चला गया, राजा पछताते रह गए। आज देश को कुलेश जैसे कर्मचारियों की आवश्यकता है।

महामाया को उन्मुख होकर मौन, एकाग्र व एकांत होना ही तप है

आदिशक्ति की लीलाकथा कहने वालों में और इसका पठन-पाठन करने वालों में शक्ति का संचार करती है। शक्ति शब्द के अर्थ को कई बार न समझने की भूल की जाती है। प्राय: लोग इसके अर्थ में अनर्थ खोजते और प्रयोग में भ्रमित होते रहते हैं। ऐसे भ्रमित लोगों के मन में शक्ति आक्रामकता, आधिपत्य, अहंता के उद्धत प्रदर्शन के रूप में स्थान पाती है। संसार के जीवनक्रम में भी शक्ति के प्राय: यही रूप देखने को मिलते हैं। हालाँकि यह स्थिति यथार्थ के विपरीत है। शक्ति का सत्य न ऐसा है और न इतना। आदिशक्ति की लीलाकथा के साथ तो यह बिलकुल भी मेल नहीं खाता। भगवती की लीलाकथा तो ज्ञान की शक्ति, वैराग्य की शक्ति, विवेक की शक्ति व भक्ति की शक्ति के अतुलनीय अनुदान देती है। जगन्माता अपनी संतानों को पराक्रम, साहस, बल व कर्मशक्ति के अनुदान अवश्य देती है, लेकिन इसी के साथ इनमें सत्कार्य की अनिवार्यता व पात्रता भी जुड़ी रहती है।

इसके विपरीत न तो कुछ संभव है और न माता को स्वीकार। जो इसके विपरीत का चयन करते हैं, उनका जीवन भी विपरीतताओं व विषमताओं से भर जाता है। इस समस्त सृष्टि में, सप्तलोकों व चौदह भुवनों में जहाँ कहीं भी शक्ति व सामर्थ्य का कोई रूप दीखता है, वह सब जगन्माता के एक अतिलघु अंश का ही प्रभाव है। माता से अलग कोई शक्ति कहीं है भी नहीं। जो कुछ, जहाँ भी, जितनी भी शक्ति है, सब महिमामयी माता के अंश मात्र का प्रभाव है। इसी के प्रभाव से देवी-देवता, असुर, नाग, यक्ष, गंधर्व, मनुष्य व अन्य प्राणी स्वयं को शक्तिसंपन्न या समर्थ अनुभव करते हैं। उनमें यह शक्ति अथवा सामर्थ्य रहती भी तब तक है, जब तक कि इसका सत्कार्य हेतु सदुपयोग किया जाता है। ज्यों ही इसका दुरुपयोग होना शुरू होता है, त्यों ही कालदंड सक्रिय हो जाता है।

इसीलिए भारतीय संस्कृति के निर्माता ऋषियों ने एक ऐसी जीवनशैली विकसित की थी, जो जीवन को सतत परिष्कृत करती रहे, ताकि जीवन हमेशा सत्कार्यपरायण व सत्पथगामी बना रहे। भारत की प्राचीन संस्कृति में, जब मानवसभ्यता मध्य हिमालय में शुरू हुई, उस समय के कतिपय उल्लेख मिलते हैं। उस समय न तो लड़ाई होती थी, न कतल और न आत्महत्या। शांतिप्रिय और सबसे सुखी लोग थे उस समय। ऐसा इसलिए हो सका; क्योंकि उनकी सभ्यता, संस्कृति व समाज ने उन्हें कभी क्रोध के लिए प्रेरित नहीं किया। उस युग में अगर कोई किसी को सपने में भी मार दे तो उसे जाना पड़ता था, उस व्यक्ति से माफी माँगने के लिए। अगर कोई किसी से नाराज हो और उससे लड़ाई हो जाए सपने में, तब अगले दिन पूरे गाँव के सामने उसे घोषित करना पड़ता था कि उसने कुछ गलत किया है।

ऐसी स्थिति में सारे गाँव के लोग इकट्ठे होते थे और गाँव का प्रज्ञावान ऋषि उस सपने का निदान करके बताता था कि ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए। छोटे बच्चों के साथ भी यही किया जाता था। उदाहरण के लिए अगर स्वप्न में किसी बच्चे ने पड़ोसी के बच्चे को उदास देखा तो वह इस स्वप्न को अपने पिता को बताता था। उसका पिता जब यह सपना गाँव के ऋषि को बताता तो वह ध्यान में जाकर स्थिति का विश्लेषण कर उससे कहता था—'अगर तुमने उसे उदास देखा है, तो इसका मतलब हुआ कि किसी तरह उसकी उदासी तुमसे संबंधित है। किसी दूसरे ने उसकी उदासी का सपना नहीं देखा। जाने-अनजाने जरूर तुमसे अवश्य कुछ हुआ है, जिससे उसकी उदासी निर्मित हुई है। पर अगर अब तक ऐसा कुछ नहीं हुआ तो ऐसा भविष्य में होने वाला होगा। सपना तो बस, प्रतीक है। इसलिए उस लड़के के पास जाओ उसे उपहार दो, उससे क्षमा माँगो और उससे प्रेम करो।'

ऋषि की बात मानकर स्वप्न देखने वाला लड़का ऐसा ही कुछ करता था। इसीलिए भारत की प्राचीनतम संस्कृति घृणा-क्रोध व सभी मनोग्रंथियों से मुक्त थी।

इसीलिए तो उस काल को सतयुग कहा जाता था। धीरे-धीरे स्थितियाँ बदलीं व विकृत हुईं। यह बदलाव पहले मानव मन में आया, बाद में फिर जीवन के घटनाक्रमों में आया।

राजा सुरथ की कहानी बदले हुए समय की कहानी है। सतयुग के अवसान की कहानी है। युद्ध की शुरुआत और घृणा-क्रोध-बैर के प्रारंभ की कहानी है। हालाँकि यह कहानी भी मानव मन के पुनः परिष्कार के प्रयास की कहानी है। यह कथा शुद्ध चित्त की खोज का विवरण है, जिसके नायक हैं—महाराज सुरथ और उनके सहयोगी हैं—समाधि वैश्य। इन्हें मार्गदर्शन देते हैं—महर्षि मेधा। इस कथा की पिछली कड़ी में कहा गया था भगवती महामाया संसार के बंधन का कारण हैं, वही मुक्ति की हेतु हैं। वे ही सभी ईश्वरों की स्वामिनी हैं। जीवन के घटनाक्रम, चित्तभूमि में कतिपय शुभ संस्कारों के उदय से महाराज सुरथ का जीवनक्रम जगन्माता की ओर उन्मुख होता है।

आदिशक्ति की लीलाकथा के मंत्र में फिर से महाराज सुरथ का उल्लेख है—

राजोवाच ॥१/१/५९॥

अर्थ= राजा ने कहा (पूछा)।

आदिशक्ति की लीलाकथा में इस राजोवाच का तीसरी बार उल्लेख है। यह तीनों बार का उल्लेख केवल अलग-अलग स्थानों पर ही नहीं, बल्कि अलग-अलग प्रसंगों में भी है। साथ ही इसमें यह भी अंतर्निहित है कि महाराज सुरथ का चित्त, चिंतन व चेतना किस प्रकार परिवर्तन व रूपांतरण की ओर अग्रसर हैं। इसमें से पहली बार का राजोवाच का उल्लेख आदिशक्ति की लीलाकथा के मंत्र क्रमांक २६ में है। यहाँ पर महाराज सुरथ समाधि वैश्य से मिलते हैं। जिस तरह महाराज सुरथ कोलाविध्वंसी नाम के शत्रुओं से पराजित होकर वन में आए थे, उसी तरह समाधि वैश्य भी अपने पुत्रों-परिजनों व स्त्री से तिरस्कृत होकर वन में आए थे। प्रायः दोनों की स्थिति एक-सी थी। दोनों ही अपना सब कुछ खो चुके थे। अब उनके पास अपना कहने के लिए कुछ भी नहीं था। घर-संसार-साधन-सुविधाओं व यश-मान से रहित।

उनके पास अतीत में भले ही कितना ही वैभव क्यों न रहा हो, उनके अहंकार को पोषित करने वाले सभी साधक अतीत में भले ही कितने ही रहे हों, लेकिन वर्तमान की परिस्थितियाँ उनके अहं को धूल-धूसरित कर रही थीं। न केवल साधनों की दृष्टि से, बल्कि भावनाओं की दृष्टि से भी वे एकाकी थे। ऐसी स्थिति में उन्होंने एकदूसरे का परिचय पाया।

इसके बाद इस पावन कथा में राजोवाच का उल्लेख कथा की मंत्र संख्या ३९ में हुआ। यह स्थिति तब की है, जबकि महाराज सुरथ की मुलाकात महर्षि मेधा से हुई। ऋषि मेधा का व्यक्तित्व तप, ज्ञान व भक्ति का प्रेरकपुंज है। उनका शुभ व सुखद सान्निध्य महाराज सुरथ व समाधि वैश्य के अँधियारे जीवन में सूर्योदय की भाँति है। इसी स्थल पर महाराज सुरथ के मन में जिज्ञासा का उदय होता है। यह जिज्ञासा जीवन के प्रति है, धर्म के प्रति है और धर्म व जीवन की आदिस्रोत माता भगवती के स्वरूप के प्रति है। सही कहें तो यही उनके जीवन के परिवर्तन व रूपांतरण का प्रारंभ बिंदु है। जीवन में परिवर्तन व रूपांतरण का प्रारंभ तभी हो पाता है, जब कोई जीवन की उच्चतर कक्षा अथवा उसके आदिस्रोत के लिए जिज्ञासु होता है। यह बड़ा ही पुण्यशाली क्षण है, जो महाराज सुरथ के जीवन में इस कथा-प्रसंग में आ सका।

इसके पश्चात इस आदिशक्ति की लीलाकथा में 'अब' राजोवाच का तीसरी बार उल्लेख हुआ है। यह उल्लेख उस समय पर है—जब महर्षि मेधा महाराज सुरथ व समाधि वैश्य को महामाया की महिमा सुनाना प्रारंभ कर चुके हैं। वह बताना शुरू कर चुके हैं, महामाया के प्रभाव को। महर्षि मेधा ने उन्हें बताया कि महामाया का अमिट प्रभाव ही संसार की स्थिति का कारण है। संसार के प्रत्येक घटनाक्रम के पीछे उन्हीं की ऊर्जा सक्रिय है।

इस स्थान पर पहुँचकर महाराज सुरथ की जिज्ञासा का परिपाक हो रहा है। उनका चित्त, चिंतन व चेतना अब महामाया की ओर उन्मुख हो रहे हैं। प्रत्येक जीवात्मा की कुशलता, पवित्रता व विकास इसी में तो है कि वह भगवती महामाया की ओर उन्मुख हो। हाँ! महामाया की ओर उन्मुख होते हुए मौन, एकांत व एकाग्र होना ही तप है। जो महामाया की ओर उन्मुख होकर अपने मन में जितना अधिक मौन, एकांत व एकाग्र हो पाता है, वह उतना ही श्रेष्ठ तपस्वी होता है। तप की यह विशेषता मनःस्थिति की है, परिस्थिति की नहीं। महाराज सुरथ अब इसी ओर अग्रसर हैं।

इस मंत्र में निहित इन आध्यात्मिक-दार्शनिक भावों के साथ इसका अपना विशिष्ट साधना-विधान है, जो निम्न है—

॥ साधना-विधान ॥

विनियोगः-ॐ अस्य श्री 'राजोवाच' इति सप्तशती एकोनषष्टि मन्त्रस्य श्रीमहर्षि वेदव्यासऋषिः, श्रीदुर्गादेवता, रौं बीजम्, दुर्गाशक्तिः, श्रीछिन्नमस्ता-महाविद्या, रजोगुणः, श्रोत्रज्ञानेन्द्रियं, सौम्य रसं, वाक्कर्मेन्द्रियं, मध्यम स्वरं, भूतत्त्वं, विद्याकला, ब्रीं उत्कीलनं, प्रवाहिनीमुद्रा, ममज्ञानभक्तिवैराग्यपूर्वकं, क्षेमस्थैर्यायुरारोग्याभिवृद्ध्यर्थं श्रीआदिशक्ति वेदमाता गायत्री रूपेण श्रीजगदम्बायोगमाया भगवतीदुर्गाप्रसाद सिद्ध्यर्थं च नमोयुत प्रणव वाग्बीज, स्वबीज, लोम-विलोम पुटितोक्त एकोनषष्टि मन्त्र जपे विनियोगः।

॥ न्यासः ॥

	कर न्यासः	षडंग न्यासः
ॐ नमः	अंगुष्ठाभ्यां नमः	हृदयाय नमः
ऐं नमः	तर्जनीभ्यां नमः	शिरसे स्वाहा
रौं नमः	मध्यमाभ्यां नमः	शिखायै वषट्
नमो नमः	अनामिकाभ्यां नमः	कवचाय हुम्
ॐ ऐं रौं नमः	कनिष्ठिकाभ्यां नमः	नेत्रत्रयाय वौषट्
राजोवाच	करतल करपृष्ठाभ्यां नमः	अस्त्राय फट्

॥ ध्यानम् ॥

विद्युद्दाम-समप्रभां मृगपतिस्कन्धस्थितां भीषणाम्।
कन्याभिः करवालखेट-विलसद्धस्ताभिरासेवितम्॥
हस्तैश्चक्र-गदाऽसि-खेद-विशिखांश्चापं गुणं तर्जनीम्।
बिभ्राणामनलात्मिकां शशिधरां दुर्गां त्रिनेत्रां भजे॥

॥ मंत्र ॥

ॐ ऐं रौं नमः राजोवाच नमो रौं ऐं ॐ॥५९॥

१००० जपात् सिद्धिः—पायस-घृत-तिलैः हरिद्रया च दशांश होमः।

गायत्री महामंत्र जप १०,०००—गायत्री विधानेन दशांश होमः।

१० माला गायत्री, १ माला सप्तशती मंत्र। इस तरह से १० दिन का विधान। तदुपरांत प्रत्येक का दशांश हवन।

आध्यात्मिक फलश्रुति—भगवती की ओर जीवन चेतना का उन्मुखीकरण।

लौकिक फलश्रुति—जीवन के कष्टों का शमन।

गायत्री महामंत्र के साथ इस सप्तशती मंत्र के प्रभाव तीव्रता से अनुभव होते हैं। गायत्री महामंत्र सभी तरह की मंत्र साधनाओं का आधार है। इसकी महिमा अतुलनीय व अवर्णनीय है। इसलिए गायत्री महामंत्र को नियमित-निरंतर व अनवरत करते रहना चाहिए। ऐसा होते रहने पर सप्तशती का पाठ व इसके मंत्रों का जप बड़े विलक्षण प्रभाव देते हैं। इस मंत्र-साधना के साथ भी कुछ ऐसा ही है। गायत्री महामंत्र के साथ इसकी साधना जैसे-जैसे परिपक्व होती है, वैसे-वैसे भाव-विचार व वृत्तियाँ भगवती महामाया के प्रति उन्मुख होती जाती हैं। साथ ही संसार के दुःख, कष्ट भी कम होते हैं। दरअसल संसार के दुःख, कष्ट कुछ और नहीं, अपने ही चित्त के अँधियारे का प्रकटीकरण है। यह अँधियारा जैसे-जैसे कम होता है, वैसे-वैसे दुःख-कष्टों का कम होना भी स्वाभाविक है। इस मंत्र की साधना से कुछ वैसा बन पड़ता है। साथ ही मंत्र-साधना हमें माता के समीप ले जाती है। जैसे-जैसे यह समीपता बढ़ती है, मन स्वतः आनंदित होने लगता है।

कलकत्ता के सोमानी जी के पिता का देहांत हुआ तो उन्होंने उनकी स्मृति में कोई प्रतीक बनवाने का निश्चय किया। जान-पहचान वालों, मित्रों-संबंधियों ने मंदिर, कुआँ, धर्मशाला से लेकर प्रशस्ति चिह्न बनवाने तक का सुझाव दिया। पर सोमानी जी की इच्छा कुछ ऐसा बनवाने की थी, जिससे अधिकाधिक लोग लाभान्वित होकर जीवन की सही दिशा पा सकें। एक वर्ष तक सोचने-विचारने के पश्चात उन्होंने पुस्तकालय बनाने का निश्चय किया और उसे बनवाकर उन्हें अत्यधिक आंतरिक संतुष्टि मिली। ज्ञान का उपहार ही सबसे बड़ी धरोहर है, इससे अनेक दिशाहीनों को जीवन की राह मिल जाती है।

इस तृष्णा का कोई अंत नहीं

हमारे वैदिक ग्रंथों में ईश्वर प्राप्ति को ही परम लक्ष्य कहा गया है। इसी परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए लोग साधनामय जीवनयापन करते थे। ईश्वर की भक्ति करते थे और अपना कर्त्तव्य कर्म करते थे। जो मिल जाता था, उसी में संतुष्ट और सुखी रहते थे, किंतु आज के इस आधुनिक युग में जीवन का उद्देश्य ही बदल गया है। धन इकट्ठा करना और धनवान बनना आज के मनुष्य का एकमात्र उद्देश्य बन गया है।

आज हर कोई धनवान बनना चाहता है। अधिक से अधिक धन कमाना चाहता है और अनेकानेक सुख के साधनों के अंबार जुटाना चाहता है, जिसकी कोई सीमा ही नजर नहीं आती। जीवन में धन का अपना महत्त्व है, इसलिए इसके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। किंतु धन उतना ही अच्छा होता है, जितना हम पुरुषार्थ से अर्जित करते हैं और जितना हमारी मूलभूत आवश्यकताओं के लिए अपेक्षित होता है। आवश्यकता से अधिक धन दुःख व कलह का कारण बन जाता है।

आज अधिक से अधिक धन कमाना ही जीवन का लक्ष्य बन गया है। कोई भी अपनी आय से संतुष्ट नहीं दीखता है। जिसके पास जितना है वह और भी अधिक चाहता है और इसके लिए दिन-रात दुखी व परेशान भी रहता है। जितना मिलता है, उतनी ही तृष्णा बढ़ जाती है, जो कभी शांत नहीं हो सकती, फिर भी व्यक्ति इसके पीछे अपना अमूल्य जीवन गँवा रहा है। हमारे पास जितना है, यदि उसका सदुपयोग किया जाए तो उससे सुखपूर्वक जीवनयापन करते हुए अपना आत्मिक विकास किया जा सकता है।

प्राचीनकाल में एक कथा आती है। कनकपुर नगर में एक किसान अपनी पत्नी के साथ रहता था। उसका छोटा-सा खेत था, जिससे उसके परिवार का भरण-पोषण हो जाता था। दोनों पति-पत्नी सुखपूर्वक अपना जीवनयापन कर रहे थे, किंतु किसान औरों की तरह धनवान बनना चाहता था। इसी कारण वह अक्सर दुखी रहने लगा था।

एक दिन की बात है कि किसान अपने खेत का कार्य निपटाकर घर लौट रहा था। धूप तेज थी, इसलिए वह कुछ देर आराम करने के उद्देश्य से एक विशाल बरगद के पेड़ के नीचे लेट गया। थका होने के कारण उसे तुरंत ही नींद आ गई और कब शाम हो गई, पता ही नहीं चला। घर पर भी उसकी पत्नी बहुत चिंतित थी। तभी अचानक किसान को एक आवाज आई—"क्या तुम्हें धन चाहिए?" यह सुनते ही किसान झट से उठ खड़ा हुआ। उसने देखा कि आस-पास कोई नहीं है।

यह देखकर वह मन ही मन घबराया और किसी तरह वहाँ से भाग निकलने की सोचने लगा। तभी उसे दोबारा वही आवाज सुनाई पड़ी। तब किसान ने सोचा कि शायद ईश्वर उस पर प्रसन्न हैं और सच में उसे धन देना चाहते हैं। यह सोचकर उसने हिम्मत जुटाई और कहा—"हाँ, मैं बहुत सारा धन चाहता हूँ।" तब आवाज ने कहा—"जा, घर लौट जा! तेरे घर पर अशरफियों से भरे सात घड़े तेरा इंतजार कर रहे हैं।" यह सुनते ही वह मन ही मन प्रसन्न होकर जल्दी-जल्दी अपने घर की ओर चल दिया। जब उसने घर में प्रवेश किया तो वह यह देखकर दंग रह गया कि सच में उसके घर में सात घड़े रखे थे। उसकी खुशी का ठिकाना न रहा। उसने अपनी पत्नी को आवाज लगाई और बोला—"देखो! भगवान ने हमारी सुन ली।" उत्साह में आकर वह घड़ों को खोल-खोलकर देखने लगा। उसने देखा कि सातवाँ घड़ा आधा खाली था और शेष छह घड़े सोने की अशरफियों से भरे हुए थे।

अब उसके पास इतना धन था कि अपना सारा जीवन सुखपूर्वक बिता सकता था, किंतु दोनों पति-पत्नी यह सोचकर दुखी थे कि इस सातवें घड़े को कैसे भरा जाए? उसी दिन से दोनों पति-पत्नी अपने खरच में से कटौती करके सातवाँ घड़ा भरने में लग गए। दोनों ने अतिरिक्त काम करना भी शुरू कर दिया। जो भी कमाते उससे सोना खरीदकर घड़े में डाल देते। ऐसा करते हुए उनके कई वर्ष

बीत गए, किंतु घड़ा भरने का नाम ही नहीं लेता था। दोनों इसी दुःख से परेशान थे कि वह घड़ा कब भरेगा।

एक दिन एक साधु उनके घर आया और पति-पत्नी को चिंतित देखकर बोला—"सातवाँ घड़ा भरा या नहीं?" यह सुनकर दोनों पति-पत्नी आश्चर्यचकित रह गए और सोचने लगे कि यह बात साधु महाराज को कैसे पता चली? तब साधु बोला—"बेटा! यह सातवाँ घड़ा तृष्णा का है, जो कभी पूरी नहीं होती। तुम इस घड़े में कितना भी सोना डालो, यह कभी भरने वाला नहीं। अधिक तृष्णा मन को व्याकुल कर देती है और मनुष्य उसी तृष्णा को साथ लिए दुनिया से विदा हो जाता है। अच्छा यही है कि तुम्हें किसी भी वस्तु की उतनी ही चाह रखनी चाहिए, जिससे तुम्हारा सुख-चैन कायम रहे।" यह कहकर साधु चला गया। साधु के जाते ही वे सातों घड़े भी गायब हो गए। तब उन्हें अपनी भूल पर पछतावा होने लगा और वे मन ही मन यह सोचने लगे कि यदि हम इस खाली घड़े को भरने की अपेक्षा ईश्वरभक्ति में अपना समय लगाते तो भगवान मिल जाते।

निश्चित रूप से हमारा पूरा जीवन धन कमाने, परिवार के लिए सुख-साधन जुटाने व परिवार की चिंता करने में ही व्यतीत हो जाता है और जब जीवन के विदा होने का समय आता है तो लगता है कि यह जीवन तो व्यर्थ हो गया। हमने ऐसा कुछ किया ही नहीं, जिससे हम भगवान के समीप जा सकें। भगवान का स्मरण भी फिर नहीं होता और जीवन के अंतिम समय में भी केवल धन की, परिवार की चिंता सताती है; क्योंकि जीवन भर धन के बारे में, परिवार के बारे में व्यक्ति सोचता रहा भगवान के बारे में नहीं। जिसके बारे में उसने जीवन भर सोचा है, जिसके लिए जीवन भर कार्य किया है, उससे मन की आसक्ति होना स्वाभाविक है और मरने के बाद भी जीवात्मा की आसक्ति नहीं छूटती, वह अपने घर-परिवार के समीप ही मँडराती रहती है।

इस तरह जिस धन के लिए, संपत्ति के लिए व्यक्ति इतनी चिंता करता है, वह धन व्यक्ति का उद्धार नहीं कर पाता। व्यक्ति का उद्धार तब होता है, जब वह अपने धन से दूसरों का कल्याण करता है, दूसरों की पीड़ा का निवारण करता है, शुभ कर्म करता है। तो ये ही उसका कल्याण करते हैं। अतः धन कमाना, उसे संचित करना गलत नहीं है। गलत है—धन के प्रति अत्यधिक आसक्ति रखना, धन के लिए परेशान रहना और अपने सबसे कीमती मानव जीवन को व्यर्थ गँवा देना। मनुष्य के द्वारा किए गए शुभ कर्म ही व्यक्ति की सहायता करते हैं और अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करते हैं। अतः बिना किसी अपेक्षा के व्यक्ति को शुभ कर्म करना चाहिए और अपने द्वारा अर्जित की गई धन-संपदा का सदुपयोग करना चाहिए। ❀

"बरसात का मौसम आने वाला है, छत पर मिट्टी डाल देनी चाहिए।"—पत्नी ने पति को सुझाव दिया। पति आरामपसंद थे, सो बोले—"अभी ऐसी भी क्या शीघ्रता है, मिट्टी डालने में समय ही कितना लगता है।" पत्नी चुप हो गई। कुछ दिन बाद आकाश में बदली छाने लगी तो पत्नी ने पति को पुनः याद दिलाया। पति बोले—"घुमड़ने वाले बादल बरसा नहीं करते। एक-दो दिन में मिट्टी डाल लेंगे।" कुछ देर बाद ही घनघोर वर्षा प्रारंभ हो गई और छत भरभरा कर गिर पड़ी। पति भाग-भागकर मरम्मत की कोशिश करने लगा तो पत्नी ने उसे कहावत याद दिलाई—"काल करे सो आज कर, आज करे सो अब। पल में परलय होइगी, बहुरि करेगो कब?"

बेटे और बेटी में भेदभाव कैसा

हमारा समाज पुरुष प्रधान समाज है। यहाँ लड़कियों व महिलाओं की अपेक्षा लड़कों व पुरुषों का महत्त्व अधिक है। गाँवों में आज भी पुत्र की प्राप्ति होने पर खुशियाँ मनाई जाती हैं और पुत्री होने पर मायूसियाँ छा जाती हैं। पुत्र प्राप्ति से खुश होने का यह कारण दिया जाता है कि इससे वंशवृद्धि होती है। लड़के का विवाह होने के उपरांत घर में लक्ष्मी आती है और बुढ़ापे में भी लड़के के कारण सहारा मिलता है; जबकि लड़की होने पर उसका विवाह करके उसे घर से विदा करना पड़ता है। उसके पालन-पोषण में बहुत सारा खरच उठाना पड़ता है और आजीवन उसके लिए कुछ न कुछ करते रहना पड़ता है; जबकि लड़का तो खुद कमाकर घर में लाता है। इस तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो ऐसा लगता है कि लड़का ही श्रेष्ठ होता है और लड़की के पैदा होने पर एक कर्ज जैसा हो जाता है।

हमारे समाज की परंपराओं ने समाज में लड़कियों के प्रति सोच व दृष्टिकोण को इतना गिरा दिया है कि उसे सम्मान की दृष्टि से भी नहीं देखा जाता है, बल्कि उसके जन्म का पता होने पर गर्भपात कराके या उसके जन्म लेने पर उसे मारने जैसा अशुभ कर्म करने में भी कुछ लोग संकोच नहीं करते। यह भी नहीं सोच पाते कि वह भी भगवान की एक कृति है। वह भी देवी का एक रूप है, यदि उसे सुसंस्कृत-सभ्य बनाया जाए व अवसर दिया जाए तो शक्तिस्वरूपा वह नारी कुछ ऐसा कर सकती है, जिसे ऐतिहासिक कहा जा सके।

हमारे देश की अवरुद्ध प्रगति का एक कारण यह भी है कि यहाँ पर लड़कियों को आगे बढ़ने के भरपूर अवसर नहीं दिए जाते। उन्हें समाज में पुरुषों के बराबर कंधे से कंधा मिलाकर चलने से रोका जाता है। देश की आधी जनसंख्या का इस तरह विकास न हो पाने के कारण हमारे देश की प्रगति अधूरी है और यह प्रगति तब तक पूर्ण नहीं होगी, जब तक कि लड़कियों के प्रति सम्मान की भावना लोगों के अंदर जाग्रत नहीं होगी और उनके विकास की राहों को परिवार के सदस्यों के द्वारा अवरुद्ध नहीं किया जाएगा।

लड़कों व लड़कियों में भेदभाव करना उचित नहीं है। जरूरत है कि उन्हें शुभ संस्कार दिए जाएँ। ये अच्छे संस्कार ही उनके व्यक्तित्व को निखारते हैं, उनके जीवन की दिशाधारा को तय करते हैं और उन्हें भटकने, भ्रमित होने व गलत राह पर कदम बढ़ाने से रोकते हैं। माता-पिता का दायित्व है कि अपने बच्चों की भावनाओं को समझें, उनके अरमानों का गला न घोटें, बल्कि उनके जीवन विकास के लिए यथोचित व्यवस्था करें। जितना मेहनत व परिश्रम माता-पिता को बच्चों का पालन-पोषण करने में लगता है यदि उतना ही ध्यान वे अपने बच्चों को सुसंस्कार देने की ओर भी लगा दें, तो उनकी संतानें न केवल अपना भविष्य सँवारेंगी, बल्कि समाज का भी हित साधन करेंगी।

लड़के व लड़कियों में भेदभाव करने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि जरूरत तो उन्हें अच्छे संस्कार देने की है। यदि दोनों में से कोई भी संस्कारवान नहीं है तो वह अपने परिवार व समाज के लिए अभिशाप की तरह ही है। भले ही फिर वह लड़का हो या लड़की। बच्चों में भेदभाव नहीं होना चाहिए, इस संदर्भ में एक बहुत ही प्रेरणादायक पौराणिक कथा है—

मंकणक नाम के एक साधक थे। भगवान शिव में उनकी आस्था थी। साधक होने के बावजूद भी उनके मन में संसार तथा सांसारिकता की कामना अभी शेष थी। धन की कामना, यश की कामना, पुत्र की कामना यदा-कदा उनके मन को घेर लेती थी। वह क्या करें? इस सोच-विचार की उधेड़-बुन में वे उलझे रहते थे। उनकी पत्नी स्वयंप्रभा इस तरह उन्हें काफी दिनों से परेशान देख रही थीं। उन्होंने कई तरह से अपने पति की इस मनःस्थिति का कारण ढूँढ़ने की कोशिश की, पर उन्हें कुछ सूझा नहीं। अतः उन्होंने साहस जुटाकर स्वयं मंकणक से यह बात पूछी। मंकणक ने उन्हें बताया— "यों तो परेशानी और चिंता का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं है, पर संसार की इच्छाएँ मेरे मन को घेरे हुए हैं, समझ में नहीं आता कि मैं क्या

करूँ?'' स्वयंप्रभा ने कहा—''हे स्वामी! आपकी इस समस्या का समाधान आपके आराध्य भगवान शिव अवश्य करेंगे। उन्हीं की कृपा से आपके मन को बोध प्राप्त होगा।''

पत्नी स्वयंप्रभा का कहना सही था। मंकणक को यह उपाय उचित लगा। उन्होंने शुभ दिन, शुभ मुहूर्त पर भगवान आशुतोष की आराधना शुरू कर दी। धीरे-धीरे कालक्रम के अनुसार उनका मन भगवान शिव के चरणों में एकाग्र होने लगा। उनकी तपस्या धीरे-धीरे प्रगाढ़ एवं परिपक्व होने लगी और फिर वैशाख शुक्ल द्वितीया के चंद्रोदय के साथ औघड़दानी शिव मंकणक के सामने प्रकट हो गए। उन्होंने कहा—''वर माँगो वत्स!''

मंकणक ने उनके सामने पुत्र की कामना प्रकट की। इस पर भगवान शिव ने कहा—''वत्स! तुमने तपस्या पूर्ण की, वर प्राप्त करना तुम्हारा नैसर्गिक अधिकार है, परंतु तुम्हारे हृदय में भक्ति का अंकुर है, बस, इसी कारण पूछना चाहता हूँ कि पुत्र किसलिए? पुत्री क्यों नहीं?'' इस पर मंकणक ने कहा—''प्रभु! पुत्र आगे चलकर सहायक बनता है; जबकि पुत्री तो विदा होकर ससुराल चली जाती है।'' उत्तर सुनकर भगवान शिव हँसे और बोले—''वत्स मंकणक! तुम तपस्वी हो, तुमने शास्त्रों का सही प्रकार से अध्ययन किया है। तुम्हें यह बोध होना चाहिए कि सहायक तो मनुष्य के कर्म होते हैं, कोई व्यक्ति विशेष किसी की सहायता नहीं करता। घर में पुत्र हो या पुत्री, उसे संस्कार देकर, शिक्षा प्रदान करके उसके व्यक्तित्व को समुन्नत बनाकर समाज को अर्पित करना माता-पिता का दायित्व है। अपने बच्चों से प्रतिदान की आशा तो पशु-पक्षी भी नहीं करते, तुम तो मनुष्य हो।'' भगवान भोलेनाथ की बातों ने मंकणक को बोध प्रदान किया। उन्हें जीवन की दिशा मिली।

यह कथा इस मनुष्य समाज को भी यह प्रेरणा देती है कि व्यक्ति को किसी के सहारे न् चलकर अपने कर्मों के सहारे चलना चाहिए। पुत्र व पुत्री में भेदभाव करके उनके जीवन विकास में अवरोध पैदा करना अशुभ कर्म ही है। इसलिए बिना किसी भेदभाव के, दोनों ही तरह की संतानों को अच्छे संस्कार देना चाहिए, उनके विकास के लिए हर उचित कदम उठाना चाहिए और उनके व्यक्तित्व को सँवारने में अपना अमूल्य योगदान देना चाहिए। इसी में माता-पिता व उनकी संतानों का हित छिपा है। ❀

नगर सेठ गोपाल्लव अथाह धनराशि का स्वामी था। विपुल धन-वैभव के होते हुए भी उसके मन में तनिक भी शांति न थी। कई रातें बीत जातीं, पर वह बिस्तर पर करवटें ही बदलता रहता और उसका मन उद्विग्न-बेचैन बना रहता। एक दिन वह अपने बिस्तर पर लेटा हुआ था कि उसे एक मधुर आवाज सुनाई पड़ी, कोई व्यक्ति बाहर ईश्वर का भजन गा रहा था। उस संगीत को सुन गोपाल्लव का मन ऐसा शांत हुआ कि उसे तुरंत निद्रा आ गई।

अगले दिन उसने उस व्यक्ति को बुलवाया, जो भजन गा रहा था। वह व्यक्ति नगर का मोची था। उसने उसे एक स्वर्णमुद्रा दी, पर स्वर्णमुद्रा पाने के बाद उस व्यक्ति का भजन कई रातों तक नहीं सुनाई पड़ा। गोपाल्लव ने उसे बुलवाया तो पता चला कि उसने जीवन में पहली बार स्वर्णमुद्रा देखी थी और उसे पाने के बाद उसकी रक्षा में ऐसा निरत हुआ कि उसकी स्वयं की नींद चली गई। यह सुनकर गोपाल्लव को भान हुआ कि वैभव की चाह एवं स्वार्थ ही सारी समस्याओं का मूल है। उसने अपनी धन-संपत्ति को परोपकार के कार्यों में उपयोग करने का निश्चय किया। परमार्थ का पथ अपनाते ही उसके मन में शांति ने स्थान बना लिया।

गुरु अनुशासन का पर्व है वसंत

शांतिकुंज में परमपूज्य गुरुदेव की उपस्थिति उन दिनों कुछ ऐसी थी, जैसे कि ऋतुराज वसंत स्वयं देह धारण करके विराजमान हो। उनके अलौकिक तप की आध्यात्मिक सुगंध, सर्वत्यागी वैराग्य का बलिदानी वासंती रंग, विवेक के कोकिल स्वर और फिर हर दिन लिखे जाने वाले लेखों में नवविचारों की आम्रमंजरी, सचमुच अद्‌भुत था यह सब। इसका अनुभव करने वालों में उल्लास कभी थमता न था, आनंद कभी रुकता न था। वासंती बयार से सराबोर रहता था उनके चारों ओर का वातावरण। दु:खों का तो कोई अनुभव ही नहीं होता था, उनके सान्निध्य में। पीड़ा भी उनके पावन स्पर्श से पुलकन में परिवर्तित हो जाती थी। कैसे कहें? कैसे लिखें? उस अपरिमित वासंती छटा के बारे में, जिसके स्मरण मात्र से अभी भी अंतर्मन में सर्वत्र वही वसंत फिर से वैसा ही छा जाता है।

इतना होते हुए भी प्रत्येक वर्ष जब भी वसंत ऋतु का आगमन होता, एक सघनता और भी बढ़ जाती। गुरुदेव स्वयं पुलकित होते और उनकी अंतश्चेतना में नवीन योजनाओं की कोंपलें फूटने लगतीं। एक दिवस जब वसंत आगमन से कुछ दिन पूर्व उनसे पूछा कि आपके लिए वसंत पर्व का क्या अर्थ है? इस सवाल के उत्तर में वे काफी देर तक कुछ नहीं बोले, फिर कहने लगे—"वसंत को लेकर सभी ने कुछ न कुछ कहा है। किसी ने शृंगार के गीत गाए हैं, किसी ने प्रेम की आस जगाई है, किसी ने बलिदान की उमंग उठाई है, तो किसी ने ज्ञान की देवी सरस्वती का स्मरण कर ज्ञान की अलख जगाई है। ये सभी अपने-अपने ढंग से सही भी हैं।" इतना कहकर वे फिर से चुप हो गए। इस पर फिर से उनसे पूछा—"सब तो सब कुछ कहते हैं, पर आपका अनुभव क्या कहता है? क्योंकि हम सबके लिए तो वसंत को आपने अर्थ दिया है, उसे हम सबके जीवन में आपने सर्वथा नई गुणवत्ता प्रदान की है।"

इस कथन पर वे शांत रहे, फिर बड़े धीरे से बोले—"मेरे लिए तो गुरु अनुशासन है वसंत।" बड़ा सरल और बड़ा गूढ़ शब्द उच्चरित किया उन्होंने। गुरु अनुशासन में गुरुतर अर्थ निहित है। उनके कहने पर, जिसे सुना तो सही, पर ढंग से समझा नहीं। आखिर क्या है गुरु अनुशासन? जो गुरु कहें उसे करना या फिर उनका अनुकरण करना अथवा उनका अनुसरण करना, उनके आदेश को मानना? लेकिन एक समस्या भी तो है इसमें, यदि सद्‌गुरु सम्मुख न हों, यदि वे सशरीर न हों तब ऐसे में शिष्य क्या करे? गुरु अनुशासन को कैसे पाए और किस तरह से स्वीकारे? मन में ऐसे न जाने कितने प्रश्नकंटक उठे, जो चेतना में चुभने लगे, पर इन्हें व्यक्त नहीं किया जा सका, शायद उस समय कहने की हिम्मत नहीं हुई। लेकिन गुरुदेव तो मन के विचारों को बड़ी सहजता से पढ़ लेते थे। उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—"मेरे मार्गदर्शक गुरुदेव भी हमेशा मेरे सम्मुख नहीं रहे, पर अंतर्भावों में सदा-सर्वदा मेरे साथ रहे।

"अपने गुरु का सतत सान्निध्य, गुरु के प्रति निरंतर ग्रहणशील बने रहना, गुरु चेतना को अनवरत आत्मसात् करना, साथ ही स्वयं की चेतना को अपने गुरु में विसर्जित, विलय करना, ये सब मेरे साथ पल-प्रतिपल होता रहा और ये सब हो सका गुरु अनुशासन के कारण, जिसे मैंने 'श्रद्धा-विश्वास' के रूप में पाया और स्वीकार किया।" श्रद्धा-विश्वास चिरकाल से सुने जाने वाले, कहे जाने वाले शब्द हैं। भारत की मिट्‌टी की सुगंध से जो परिचित हैं, जिन्हें भारतीय संस्कृति का प्रारंभिक ज्ञान है, जो गुरु-परंपरा और शिष्य की समर्पित भावना को जानते हैं, उनमें से हर कोई श्रद्धा-विश्वास से परिचित है। हालाँकि यह दीर्घकालीन परिचय प्राय: शब्दों का ही है। सारगर्भित अर्थ क्या है इसका, यह तो कुछ ही जानते हैं। जब गुरुदेव के मुख से श्रद्धा-विश्वास शब्द कहे गए, तो इनके साथ इनका विशिष्ट अर्थ भी था। जिसे अभी समझना बाकी था।

आखिर श्रद्धा-विश्वास को उन्होंने गुरु अनुशासन का पर्याय क्यों कहा, यह तो केवल वही बता सकते थे। अपना मन व अपने कान तो बस, उन्हें सुनने के लिए

आतुर थे। अंतर्यामी गुरुदेव मन की इस स्थिति को समझकर बोले—"श्रद्धा भावनाओं की सकारात्मक सघनता का शिखर है। भावनाओं के दोनों रूप होते हैं—सकारात्मक एवं नकारात्मक। सकारात्मक भावनाओं में दया, करुणा, क्षमा, प्रेम, सहानुभूति जैसे भावनात्मक तत्त्व आते हैं। नकारात्मक भावों में क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष जैसे तत्त्वों को शामिल किया जा सकता है। जहाँ तक श्रद्धा की बात है, तो यह सभी शुद्ध, सात्त्विक व सकारात्मक भावनाओं का सघन रूप है। जब श्रद्धा अंकुरित होती है, पुष्पित-पल्लवित होती है, तो स्वाभाविक ही उसमें व्यक्ति के सभी आयाम समाविष्ट हो जाते हैं। इस तरह स्वयं में श्रद्धा होने का अर्थ है, स्वयं के व्यक्तित्व को अपने श्रद्धेय के व्यक्तित्व में अर्पित कर देना। जिसके प्रति हम श्रद्धा करते हैं, वह हमारे लिए सर्वथा प्रश्नरहित व संपूर्ण रूप से निर्दोष होता है।"

"श्रद्धा से ही जुड़ा होता है विश्वास। श्रद्धा व्यक्तित्व के प्रति होती है, तो विश्वास विचारों के प्रति। श्रद्धा भाव क्षेत्र से जुड़ी है, तो विश्वास भाव आवेष्टित होते हुए विचार क्षेत्र से जुड़ा है। विश्वास के साथ जुड़ा एक सत्य यह भी है कि विश्वास होता है या फिर नहीं होता है। इसमें बीच की स्थिति का कोई स्थान नहीं है। विश्वास के साथ संपूर्ण मानसिक ऊर्जा का जुड़ाव होता है, जो इसे अडिग व अविचल बनाता है। जैसे-जैसे मानसिक संकल्प विश्वास के तदाकार होता जाता है, इसके परिणाम चमत्कारी होते जाते हैं। जिसके प्रति हमारा विश्वास जितना गहरा होता है, हम उसके विचारों को उतनी शीघ्रता व सरलता से आत्मसात् कर लेते हैं। इसी के साथ इनका जीवन में क्रियान्वयन और प्रतिफलन भी शीघ्र हो जाता है।"

पूज्य गुरुदेव श्रद्धा व विश्वास की तात्त्विक व्याख्या कर रहे थे। पहली बार गुरु अनुशासन के रूप में इन दोनों तत्त्वों की व्याख्या सुनने को मिल रही थी। हालाँकि अभी भी यह स्पष्ट नहीं हो पा रहा था कि ये दोनों तत्त्व गुरु अनुशासन के रूप में कैसे सक्रिय होते हैं। मन में हो रहे इस सोच-विचार की कड़ियाँ तब टूटीं, जब गुरुदेव ने कहा—"श्रद्धा, गुरु अनुशासन का पहला तत्त्व इस तरह से है कि इसके बिना हम गुरु के व्यक्तित्व को, उनके आदर्श को, उनकी आध्यात्मिक ऊर्जा को न तो सही से स्वीकार कर पाते हैं और न ग्रहण-धारण कर पाते हैं। हम अपनी श्रद्धा के अनुपात में ही अपने गुरु के प्रति संवेदनशील, सकारात्मक एवं सुग्राह्य होते हैं। जो अपने गुरु को सभी तरह के प्रश्नों से परे व संपूर्ण निर्दोष तथा सर्वगुणमय समझते हैं, वही सद्गुरु के मार्गदर्शन में साधना का सौभाग्य पाते हैं।

यही स्थिति विश्वास की है। गुरु के वचन व विचार मंत्रमय होते हैं। इन पर मनन आवश्यक है, न कि तर्क-वितर्क। ऐसा तभी होता है; जबकि उनके वचनों पर संपूर्ण विश्वास हो।" जब गुरुदेव यह कह रहे थे, तभी मन में गोस्वामी तुलसीदास की यह चौपाई उभर आई—**गुरु के वचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुख सिधि सुलभ न तेही।** अर्थात जिसे अपने गुरु के वचनों व विचारों पर विश्वास नहीं है, उसे स्वप्न में भी सुख व आध्यात्मिक सफलता नहीं मिल पाती। पता नहीं कैसे गुरुदेव ने मन के इन विचारों को जान लिया और बोले—"हाँ, यही सही है। आध्यात्मिक जीवन की राहें बड़ी अटपटी, जटिल व दुर्गम होती हैं। श्रद्धा-विश्वास के गुरु अनुशासन के सहारे ही इन पर चला जा सकता है।

"उपनिषदों ने आध्यात्मिक पथ को '**क्षुरस्य धारा**' कहा है। कदम-कदम पर विपदाएँ, महासंकट, भयावह विभीषिकाएँ घेरती हैं। इन्हें देखते ही दिल दहल जाता है, पर जिस शिष्य का अंत:करण श्रद्धा-विश्वास से पूरित है, उसे अपने अंत:करण में गुरुसत्ता के अंतर्निर्देश सतत मिलते हैं। साथ ही यह अनुभव होता है कि सद्गुरु का संग-साथ नित्य है। ऐसे में अमंगल संभव ही नहीं।" ऐसा कहते-कहते गुरुदेव ने अपने नेत्र ऊपर उठाए और बोले—"**हमारे जीवन भर की पूँजी यही है। अपने गुरु के प्रति श्रद्धा व विश्वास। हमारे लिए वसंत का यही अर्थ है। इसी मार्ग पर हम जीवन भर चले हैं और यही मार्ग तुम सबके लिए भी है।**" ❀

तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचिः ॥

सब तीर्थों में अंतरात्मा ही परम तीर्थ है और सब पवित्रताओं में हृदय की पवित्रता ही प्रमुख है।

श्रेष्ठतम कर्म है कर्त्तव्य

सृष्टि का परम तत्त्व है—कर्म। इसीलिए जीवन में कर्म अनिवार्य है। कोई चाहकर भी इस भागवत् विधान से बच नहीं सकता। जिस प्रकार कर्म का त्याग संभव नहीं, उसी प्रकार कर्मफल को भोगना भी अनिवार्य है। कर्म और कर्मफल से आज तक कोई भी नहीं बच पाया है—स्वयं भगवान को भी इस मर्यादा का पालन करना पड़ता है। जब कर्म अनिवार्य है तो फिर इससे बचने व भागने की अपेक्षा इसे स्वीकार करना ज्यादा श्रेष्ठ होगा।

गीता में भगवान कृष्ण ने कर्त्तव्य कर्म को ही श्रेष्ठतम कर्म कहा है। मनुष्य अपने कर्त्तव्य कर्म से मुख तो मोड़ सकता है, परंतु कर्मों के फल से नहीं बच सकता। हमने जो कर्म किए हैं, हमें उनके फल को तो भोगना ही पड़ता है। जब कर्म करना अनिवार्य ही है तो क्यों न अपने समय व शक्ति का उपयोग ऐसे कर्म में लगाएँ, जो श्रेष्ठतम हो, जिसके माध्यम से हमारा संपूर्ण विकास हो।

हर व्यक्ति एक निश्चित समयावधि लेकर जन्म लेता है और उसे इसी समयावधि में अपना कार्य पूरा करना होता है। हर क्षण बहते पानी की तरह हमारे हाथ से निकलता जा रहा है। अच्छा तो यही है कि हम अपने इस जीवन को कर्त्तव्य कर्म में लगाएँ। कर्त्तव्य कर्म करने में एक लाभ यह है कि इसको करने से व्यक्ति को शांति और संतोष रूपी अनुदान तो मिलते ही हैं, साथ ही कर्मफल के बंधन से मुक्त हो जाने पर परमपद की प्राप्ति भी होती है।

स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि कर्मयोग का तत्त्व समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि कर्त्तव्य क्या है। यदि मुझे कोई काम करना है तो पहले मुझे यह जान लेना चाहिए कि यह मेरा कर्त्तव्य है और तभी मैं उसे कर सकता हूँ। विभिन्न जातियों में, विभिन्न देशों में इस कर्त्तव्य के संदर्भ में भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। जीवन में अवस्था, काल एवं जाति के भेद से कर्त्तव्य के संबंध में धारणाएँ भी बहुविध हैं। अन्यान्य सार्वभौमिक भावसूचक शब्दों की तरह 'कर्त्तव्य' शब्द की भी ठीक-ठीक व्याख्या कर पाना अत्यंत कठिन है।

कर्त्तव्य के संबंध में सर्वत्र साधारण धारणा यही देखी जाती है कि सत्पुरुष अपने विवेक के अनुसार कर्म किया करते हैं। परंतु वह क्या है, जिससे एक कर्म 'कर्त्तव्य' बन जाता है? साधारणतया यदि एक मनुष्य सड़क पर जाकर किसी दूसरे मनुष्य को बंदूक से मार डाले, तो निश्चित ही उसे यह सोचकर दुःख होगा कि कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो उसने अनुचित कार्य कर डाला है। परंतु यदि वही मनुष्य एक फौज में सिपाही की हैसियत से एक नहीं, बल्कि बीसों शत्रुओं को भी मार डाले, तो उसका यह कर्म कर्त्तव्य कर्म के रूप में गिना जाएगा, जैसे—भगवान कृष्ण अर्जुन को गीता में कौरवों का वध करने का आदेश उसके कर्त्तव्य कर्म के अनुसार देते हैं, परंतु साधारण परिस्थितियों में वही कर्म हिंसा के रूप में माना जा सकता है।

अतएव केवल बाह्य कार्यों के आधार पर कर्त्तव्य की व्याख्या करना नितांत असंभव है, किंतु आंतरिक दृष्टिकोण से कर्त्तव्य की व्याख्या हो सकती है। यदि किसी कर्म द्वारा हम भगवान की ओर बढ़ते हैं तो वह सत्कर्म है और वह हमारा कर्त्तव्य है, परंतु जिस कर्म द्वारा हम पतित होते हैं, वह हमारा कर्त्तव्य नहीं हो सकता। विभिन्न युगों में, विभिन्न संप्रदायों और विभिन्न सभ्यताओं द्वारा मान्य यदि कर्त्तव्य का कोई एक सार्वभौमिक भाव रहा है, तो वह है—**परोपकाराय पुण्याय, पापाय परपीडनम्** अर्थात परोपकार ही पुण्य है, और दूसरों को दुःख पहुँचाना ही पाप है।

श्रीमद्भगवद्गीता में जन्मगत तथा अवस्थागत कर्त्तव्यों का बारंबार वर्णन है। जीवन के विभिन्न कर्त्तव्यों के प्रति मनुष्य का जो मानसिक और नैतिक दृष्टिकोण रहता है, वह अनेक अंशों में उसके जन्म और उसकी अवस्था द्वारा निर्धारित होता है। इसीलिए अपनी सामाजिक अवस्था के अनुरूप, हृदय तथा मन को उन्नत बनाने वाले कार्य करना ही हमारा कर्त्तव्य है।

हमें जो एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए, वह यह कि हम दूसरों के रीति-रिवाजों को अपने रीति-रिवाज के मापदंड से न जाँचे। यह हमें विशेष रूप से जान लेना चाहिए कि हमारी धारणा के अनुसार सारा संसार नहीं चल सकता, हमें ही सारे संसार के साथ मिल-जुलकर चलना होगा, सारा संसार कभी भी हमारे भावों के अनुकूल नहीं हो सकता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि देश-काल-पात्र के अनुसार हमारे कर्त्तव्य कितने बदल जाते हैं और सबसे श्रेष्ठ कर्म तो यह है कि जिस विशिष्ट समय पर हमारा जो कर्त्तव्य हो, उसी को हम भली-भाँति निभाएँ। पहले तो हमें जन्म से प्राप्त कर्त्तव्य को करना चाहिए और उसे कर चुकने के बाद, सामाजिक जीवन में हमारे 'पद' के अनुसार जो कर्त्तव्य हो, उसे संपन्न करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति जीवन में किसी न किसी अवस्था में अवस्थित है; उसके लिए पहले उसी अवस्थानुयायी कर्म कों करना आवश्यक है।

मानव-स्वभाव की एक विशेष कमजोरी यह है कि वह कभी स्वयं में त्रुटि देखने का प्रयास नहीं करता। हर व्यक्ति यह सोचता है कि वह सर्वसम्मान पाने का अधिकारी है, पर ऐसा सोचने से पहले उसे यह देख लेना चाहिए कि वह अपने वर्तमान कर्त्तव्य का भली-भाँति निर्वहन कर रहा है अथवा नहीं? ऐसा होने पर ही उसके सामने उच्चतर जिम्मेदारियाँ प्रस्तुत होएँगी। जब संसार में हम लगन से काम शुरू करते हैं, तो प्रकृति विभिन्न संघर्षों के माध्यम से हमें इस योग्य बना देती है कि हम अपना वास्तविक पद निर्धारित कर सकें।

यहाँ यह जान लेना भी आवश्यक है कि प्रकृति हमारे लिए जिस कर्त्तव्य का चयन करती है, उसका विरोध करना व्यर्थ है। यदि कोई मनुष्य छोटा कार्य करे, तो उसके कारण वह छोटा नहीं कहा जा सकता। कर्त्तव्य के मात्र बाहरी रूप से ही मनुष्य की उच्चता का निर्णय करना उचित नहीं, देखना तो यह चाहिए कि वह अपना कर्त्तव्य किस भाव से करता है। सबसे श्रेष्ठ कार्य तो तभी होता है, जब उसके पीछे किसी प्रकार की स्वार्थ की प्रेरणा न हो और उस व्यक्ति द्वारा अपना कर्त्तव्य मनोयोग के साथ पूर्ण किया गया हो।

जब कर्म उपासना में परिणत हो जाता है उस समय कर्म का अनुष्ठान केवल कर्म के लिए ही होता है। कर्त्तव्य का पालन दुष्कर भी हो सकता है, पर यदि कर्त्तव्य करने में निहित भावनाएँ शुभ एवं सात्त्विक हों तो मनुष्य के लिए कर्त्तव्य की पूर्ति करना सहजता से संभव है। यदि ऐसा न हो तो माता-पिता अपने बच्चों के प्रति, बच्चे अपने माता-पिता के प्रति, पति अपनी स्त्री के प्रति तथा स्त्री अपने पति के प्रति अपना-अपना कर्त्तव्य कैसे निभा सकते हैं? कर्त्तव्य पालन की मधुरता इन्हीं सात्त्विक भावनाओं में है।

हमारी उन्नति का एकमात्र उपाय यह है कि हम पहले वह कर्त्तव्य करें, जो काल द्वारा हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर दिया गया है और इस प्रकार धीरे-धीरे शक्तिसंचय करते हुए हम सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। किसी भी कर्म को घृणा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। केवल मनुष्य के कर्म का रूप देखकर उसकी उच्चता-नीचता का विचार करने की अपेक्षा यह देखना होगा कि वह उसका पालन किस ढंग से करता है। कार्य करने की उसकी शक्ति, ढंग और भाव से ही उसकी जाँच की जानी चाहिए।

शास्त्रों में एक कथा आती है कि एक तरुण संन्यासी किसी वन में गया। वहाँ उसने दीर्घ काल तक ध्यान-भजन तथा योगाभ्यास किया। अनेक वर्षों की कठिन तपस्या के बाद एक दिन जब वह एक वृक्ष के नीचे बैठा था, तो उसके ऊपर वृक्ष से कुछ सूखी पत्तियाँ आ गिरीं। उसने ऊपर निगाह उठाई तो देखा कि एक कौआ और एक बगुला पेड़ पर लड़ रहे हैं। यह देखकर संन्यासी को बहुत क्रोध आया। उसने कहा—"यह क्या? तुम्हारा इतना साहस कि तुम ये सूखी पत्तियाँ मेरे सिर पर फेंको?" इन शब्दों के साथ संन्यासी की क्रुद्ध आँखों से आग की एक ज्वाला-सी निकली और वे बेचारे दोनों पक्षी उससे जलकर भस्म हो गए। अपने में यह शक्ति देखकर वह संन्यासी बड़ा खुश हुआ और उसने सोचा—"अब मुझमें अपार शक्ति है। मैं तो दृष्टिमात्र से किसी को भी भस्म कर सकता हूँ।"

कुछ समय बाद भिक्षा लेने के लिए वह एक गाँव में गया। गाँव में जाकर वह एक दरवाजे पर खड़ा हुआ और उसने पुकारा—"माँ! कुछ भिक्षा मिलेगी।" भीतर से आवाज आई—"थोड़ी प्रतीक्षा करनी होगी, मैं अभी अपने पति की सेवा में निरत हूँ।" संन्यासी ने मन में सोचा, 'इस महिला का इतना साहस कि ये मुझसे प्रतीक्षा कराए! अभी ये मेरी शक्ति नहीं जानती?' संन्यासी ऐसा सोच ही रहा था कि भीतर से फिर एक आवाज आई—"बेटा! अपने को इतना बड़ा मत

समझ। मैं कोई पक्षी नहीं हूँ, जो तेरे देखने मात्र से भस्म हो जाऊँ।''

यह सुनकर संन्यासी को बड़ा आश्चर्य हुआ। बहुत देर तक खड़े रहने के बाद घर में से एक स्त्री निकली और उसे देखकर संन्यासी उसके चरणों पर गिर पड़ा और बोला—''माँ, तुम्हें यह सब कैसे मालूम हुआ? तुमने कौन-सी साधना की है?'' स्त्री ने उत्तर दिया—''बेटा! न तो मेरे पास कोई सिद्धि है और न मैं तुम्हारी तरह तपस्वी हूँ। मैं तो एक साधारण स्त्री हूँ। मैंने तुमको इसलिए थोड़ी देर रोका था कि मेरे पतिदेव बीमार हैं और मैं उनकी सेवा-शुश्रूषा में संलग्न थी। यही मेरा कर्त्तव्य है। सारे जीवन भर मैं इसी बात का प्रयत्न करती रही हूँ कि मैं अपना कर्त्तव्य पूर्ण रूप से निभाऊँ। जब मैं अविवाहित थी, तब मैंने अपने माता-पिता के प्रति कन्या का कर्त्तव्य पूर्ण किया और अब जब मेरा विवाह हो गया है, तो मैं अपने पतिदेव के प्रति पत्नी होने के कर्त्तव्य का पालन करती हूँ। बस, यही मेरी साधना है। अपना कर्त्तव्य करने से ही मेरे दिव्य चक्षु खुल गए हैं, जिससे मैंने तुम्हारे विचारों को जान लिया और मुझे इस बात का भी पता चल गया कि तुमने वन में क्या किया है। यदि तुम्हें इससे भी कुछ उच्चतर तत्त्व जानने की इच्छा है, तो बाजार में जाओ, वहाँ तुम्हें एक व्याध मिलेगा।''

पहले तो संन्यासी ने सोचा कि एक व्याध भला क्या ज्ञान दे सकता है? परंतु उसने अभी जो घटना देखी थी, उससे उसकी उत्सुकता और भी बढ़ गई थी। अत: वह बाजार को प्रस्थान कर गया। जब वह बाजार पहुँचा, तो उसने दूर से एक व्याध को बाजार में बैठे हुए और मांस काटते हुए देखा। वह लोगों से सौदा कर रहा था। संन्यासी ने मन ही मन सोचा, 'हे प्रभु! क्या यही वह व्यक्ति है, जिससे मुझे ज्ञान मिलेगा? दीखने में तो यह बहुत नीच प्रवृत्ति का लगता है!' इतने में व्याध ने संन्यासी की ओर देखा और कहा—''महाराज! यहाँ पर भी आपको थोड़ी प्रतीक्षा करनी होगी। ठीक वैसे ही, जैसे उस पतिव्रता महिला के यहाँ करनी पड़ी थी। मैं जरा अपना काम समाप्त कर लूँ।''

यह सुनकर संन्यासी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। संन्यासी ने देखा कि व्याध अपना काम लगातार करता रहा और जब वह अपना काम पूरा कर चुका, तो उसने अपने रुपये-पैसे समेटे और संन्यासी से कहा—''चलिए महाराज! घर चलिए।'' घर पहुँचकर व्याध ने उन्हें आसन दिया और बैठक में बैठाकर कहा—''आप यहाँ थोड़ा ठहरिए।''

इतना कहकर व्याध घर के अंदर चला गया। वहाँ उसने अपने वृद्ध माता-पिता को स्नान कराया, उन्हें भोजन कराया और फिर वह उस संन्यासी के पास आया और उनसे बोला—''महाराज! आप मेरे पास आए हैं। अब बताइए, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?'' संन्यासी ने उससे आत्मा तथा परमात्मा संबंधी कुछ प्रश्न किए और उनके उत्तर में व्याध ने उसे जो उपदेश दिया, वही महाभारत में प्रसिद्ध आख्यान के रूप में वर्णित है।

जब व्याध अपना उपदेश समाप्त कर चुका तो संन्यासी को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने कहा—''इतने ज्ञानी होते हुए भी आप ऐसे क्यों रहते हैं? आप इतना निंदित और कुत्सित कार्य क्यों करते हैं?'' व्याध ने उत्तर दिया—''वत्स! कोई भी कार्य निंदित अथवा अपवित्र नहीं है। मैं जन्म से ही इस परिस्थिति में हूँ, यही मेरा प्रारब्धजन्य कर्म है। बचपन से ही मैंने यह व्यापार सीखा है, परंतु इसमें मेरी कोई आसक्ति नहीं है। कर्त्तव्य होने के नाते मैं इसे उत्तम रूप से किए जाता हूँ। मैं गृहस्थ होने के नाते अपना कर्त्तव्य करता हूँ और अपने माता-पिता के प्रति अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करता हूँ। न तो मैं कोई योग जानता हूँ और न ही मैं कभी संन्यासी ही हुआ हूँ। संसार छोड़कर मैं कभी वन में नहीं गया, परंतु फिर भी जो तुमने मुझसे सुना तथा देखा, वह सब मुझे अनासक्त भाव से अपनी अवस्था के अनुरूप कर्त्तव्य का पालन करने से ही प्राप्त हुआ है।''

कर्मफल में आसक्ति रखने वाला व्यक्ति अपने भाग्य में आए हुए कर्त्तव्य से उद्विग्न होता है। अनासक्त पुरुष के लिए सब कर्त्तव्य एकसमान हैं। उसके लिए तो वे कर्त्तव्य आत्मा को मुक्त कर देने के लिए शक्तिशाली साधन हैं। इसलिए जब हम कोई कार्य करें, तब हमें अन्य किसी बात का विचार न करते हुए उसे एक उपासना के रूप में करना चाहिए। यही बात हमने उपरोक्त कथा में देखी है। व्याध एवं वह स्त्री, दोनों ने अपना-अपना कर्त्तव्य बड़ी प्रसन्नता तथा तन्मयता से किया और उसका फल यह हुआ कि उन्हें दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ। इससे हमें यह स्पष्ट होता है कि जीवन की किसी भी अवस्था में, कर्मफल में बिना आसक्ति रखे यदि कर्त्तव्य उचित रूप से किया जाए, तो उससे हमें परमपद की प्राप्ति होती है। परमात्मा द्वारा प्रदत्त कर्त्तव्य का अनासक्ति एवं पूर्ण श्रद्धा से निर्वहन ही श्रेष्ठतम कर्म है।

ईसा का गिरि प्रवचन

अपने प्रथम बारह शिष्यों को ईसा एक दिन पर्वत पर ले गए। वहाँ उन्होंने उन्हें जो उपदेश दिए, उनमें अपने ज्ञान और अनुभव का सारा सार निचोड़ दिया। उतना भर यदि किसी की मान्यता में प्रवेश पा सके तो समझना चाहिए कि धर्म और अध्यात्म का सार तत्त्व उसके हाथ लग गया।

ईसा ने कहा—"इस संसार में जो विनम्र, जिज्ञासु, दयालु, अपरिग्रही, पवित्र मन, शांत, संतुलित और एकता बढ़ाने वाले हैं, वे ही धन्य हैं, वे ही मोक्ष के अधिकारी हैं, वे ही प्रभु के पुत्र कहलाने लायक हैं; क्योंकि धर्मराज्य में प्रवेश उन्हीं को मिलेगा।"

"लोग जब तुम्हारी निंदा करें, सचाई पर दृढ़ रहने के कारण झूठे अभियोग लगाएँ तो तुम अपने को सौभाग्यशाली समझना। भूतकाल में जो संत हुए हैं, उन्होंने तिरस्कार और कष्ट सहकर ही साधुता प्राप्त की है।"

"तुम धन और यश के पीछे न भागना। उन्हें अपना बल न समझना, वे कुहासे की तरह हैं, जो सघन दीखता भर है, पर उसमें तथ्य कुछ नहीं होता। उन्हें पाकर न तुम संतुष्ट रह सकोगे और न चैन से बैठ सकोगे। जीवन-निर्वाह के लिए दरिद्रों की सेवा-सहायता करो और अपना पुरुषार्थ ईश्वर के कामों में लगाओ।"

"पवित्रता और सेवा ये दो कार्य ही ऐसे हैं, जिन्हें मजबूती से पकड़े रहने पर तुम महान बनोगे और धन्य कहलाओगे। तुम ऊँची पहाड़ी पर बसे नगर की तरह सबकी आँखों में आगे रहो। छिपाने योग्य कुछ भी ऐसा न हो, जो कि किसी कोने पर कालिख लगा सके।"

"पुरातन कथनों को पत्थर की लकीर जैसा न मानो, उनमें सत्य के साथ असत्य भी घुल-मिल गया है। इसे छानो, फटको और विवेकपूर्ण देखो कि अपनाने योग्य कितना है। जो उचित है, उसी को अंगीकार करो। अंधों की तरह किसी के पीछे न चलो, शास्त्रियों के पीछे भी नहीं।"

"क्रोध न करो। न ईर्ष्या, न छल। दूसरे मूर्खता करते हैं, तो तुम्हें उनका अनुकरण करने की क्या आवश्यकता? अपना मुँह उजला और हाथ स्वच्छ रखो। दूसरे किस तरह रहते हैं और क्या करते हैं, यह ढूँढ़ने के लिए दुर्जनों के समुदाय में मत जाओ।"

"लोग मित्र से प्रेम करते हैं और शत्रु से द्वेष, पर मैं तुमसे कहता हूँ कि बैर रखने और शत्रुता बरतने वाले के साथ भी तुम सज्जनता बरतना। अन्यायी अपनी मौत मरेगा, पर सज्जनता सदा जीवित रहेगी। कृतघ्नों के प्रति भी करुणा बरतो; क्योंकि ईश्वर भी वैसा ही करता है। लोग व्यभिचार को बुरा कहते हैं, पर मैं तुमसे कहता हूँ कि न कुदृष्टि से देखना और न पाप का चिंतन करना। संयम ही तुम्हारा साथी और हितैषी है।"

"अपने को अधिक अच्छा बना लो, ताकि सामान्यजन पर छाप छोड़ सको। ऐसे वचन बोलो, जो सबको शांति दें और ऊँचा उठाएँ। तुम्हारी वाणी ही है, जो हृदय के स्तर का परिचय कराती और सज्जनता का प्रमाण देती है। बढ़-चढ़कर बातें मत करो। शेखी न बघारो। भीतर और बाहर से एक रहो। नम्रता और शिष्टता का समुचित निर्वाह करो। उस राह पर न चलो, जिस पर उद्दंड चलते हैं। कपट का ताना-बाना न बुनो। अपने को उसी रूप में प्रकट होने दो, जैसे कि वस्तुतः तुम हो।"

धिया चक्रे वरेण्यो। —यजुर्वेद
बुद्धिपूर्वक कर्म करने वाला ही लोगों के द्वारा वरण करने योग्य होता है।

"ईश्वर से प्रार्थना करो कि वह तुम्हें आज की रोटी आज दे। पूरा परिश्रम करो और जमाखोरी की ओर मन को न ललचाने दो। संपदा वे नहीं जमा कर सकते, जिनके हृदय में करुणा है। तुम न धनी बनो, न धनिकों को देखकर ललचाओ। जो श्रद्धा का महत्त्व नहीं जानता, वही वैभव की चिंता करता है। पुरुषार्थ पर विश्वास करो और ईश्वर पर श्रद्धा रखो। श्रद्धा ही मनुष्य को सींचती और आगे बढ़ाती है।"

परमपूज्य गुरुदेव का आध्यात्मिक मानवतावाद

पं.श्रीराम शर्मा आचार्य ने मानवतावाद के बारे में बहुत कुछ अपने साहित्य में बताया है। इस विषय पर एक महत्त्वपूर्ण शोधकार्य सन् २००८ में शोधार्थी श्री कृष्णा झरे के द्वारा पूर्ण किया गया। इस शोध-अध्ययन का विषय था—'**मानवतावाद- एक दार्शनिक अनुशीलन—आचार्य श्रीराम शर्मा के विशेष संदर्भ में**'। यह अध्ययन कुलाधिपति डॉ० प्रणव पण्ड्या के विशेष संरक्षण एवं प्रो० विभा मुकेश के निर्देशन में किया गया। यह सैद्धांतिक शोध-अध्ययन कुल छह अध्यायों में विभक्त है—

प्रथम अध्याय है—विषय प्रवेश। इस अध्याय में मानव जीवन की विशिष्टताओं, मानव तथा मानवता का अर्थ, मानवता के मूल आधार तथा मानवता के मूल्यों को स्पष्ट किया गया है।

मानव जीवन की प्रमुख विशिष्टताओं में शामिल हैं—१. कर्मभूमित्व, २. प्रकृति पर स्वामित्व-संस्थापन की चेष्टा, ३. विवेक-बुद्धि, ४. उत्तरदायित्व- कर्त्तव्यबोध, ५. सहृदयता और ६. धार्मिक-आध्यात्मिक भावना। प्राचीन काल से मानव जीवन की श्रेष्ठता का मूल्यांकन कई दृष्टियों से होता आया है। धर्म उसे 'गिरा हुआ देवता' कहता है और विज्ञान उसे 'उठा हुआ पशु' बताता है। इसका कारण यह है कि मानव जीवन में इन दोनों बातों का समावेश है। मानव में ऐसी विशिष्टता होती है कि वह यदि अपने जीवन को देवत्व की ओर विकसित करे तो उसे मानवता का लक्ष्य सहज प्राप्त होता है; जबकि ऐसा न करने से पाशविक वृत्तियाँ ही उसके जीवन पर अधिकार करती हैं। मानव की श्रेष्ठता का मूल्यांकन भी इन्हीं को आधार बनाकर किया जाता रहा है। मानव की विशेषता है—देवगुणसंपन्न होना और पशुगुणविहीन होना। गुण संपन्नता ही मानव की मानवता कहलाती है।

मानव के सृजनात्मक गुण पर बल देते हुए रवींद्रनाथ टैगोर लिखते हैं—'मानव को पशु से अलग करने वाली विशेषता अथवा गुण उसकी आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति में नहीं, अपितु सृजनात्मक शक्ति और उत्सर्ग में है, जो उसके निवास-आवास, समाज तथा सभ्यता के निर्माण में सहायक होती है।'

मानव जीवन के आधारभूत मूल्य वे हैं, जो मानवता के पोषक और संवाहक तत्त्वों के रूप में परिलक्षित होते हैं, ये निम्न हैं—१. नैतिकता, २. सदाचार, ३. सहिष्णुता, ४. प्रेमभावना, ५. विश्वबंधुत्व का भाव, ६. धार्मिकता और ६. आध्यात्मिकता। ये दैवीय सद्गुण ही मानवीय व्यक्तित्व में प्रतिष्ठित होकर मानवता को धारण करते हैं।

द्वितीय अध्याय है—मानवतावाद का स्वरूप। इस अध्याय में प्राचीन भारतीय आर्ष साहित्य में मानवतावाद को बताने के साथ पाश्चात्य चिंतन की मानवतावादी दृष्टि व समकालीन मानवतावादी चिंतन को स्पष्ट किया गया है।

भारतीय चिंतन का प्राचीनतम रूप वेदों में उपलब्ध है और इसमें मानवतावादी विचारधारा का प्रमुख आधार समभाव है। ऋग्वेद में मानवता को एक व्यापक भावना के रूप में प्रतिपादित किया गया है, उसे जीवन दर्शन का रूप दिया है। मानव मात्र को वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्त्तव्यों का ज्ञान कराकर उसे सुख, शांति और आनंद का सच्चा मार्ग बताना—यही वेदों का पवित्र उद्देश्य है। वैदिक सिद्धांत मनुष्य को पवित्र, कर्मठ, संबद्ध और पुरुषार्थी तथा वीर बनने की शिक्षा देते हैं, जब इन तत्त्वों को क्रियात्मक रूप दिया जाता है, तब ये तत्त्व मानवता के नाम से अभिहित होते हैं। वेदों का प्रमुख लक्ष्य लौकिक एवं अलौकिक दृष्टि से मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन करना है।

उपनिषदों में आत्मसत्ता के रूप में अध्यात्म तत्त्व का प्रतिपादन कर मानवता के रहस्यमय और आध्यात्मिक तत्त्व को प्रकट किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में निष्काम कर्मयोग और लोकसंग्रह की अवधारणा मानवता की परिपोषक है। इसके साथ ही मनुष्य के आचरण एवं व्यवहार को नियमित करने वाले उपदेश भी इसमें मुखरित हुए हैं। इसी तरह षड्दर्शनों में यद्यपि मानवता का कहीं अलग से विवेचन नहीं हुआ है, किंतु मानव जीवन के

परम लक्ष्य—मुक्ति अथवा मोक्ष के रूप में मानवता के सर्वोच्च मूल्य का प्रतिपादन षड्दर्शनों में है।

जैन एवं बौद्ध धर्म यद्यपि आर्ष साहित्य परंपरा में नहीं आते, किंतु ये इस परंपरा के चिंतन को सर्वाधिक प्रभावित करते हैं और वैदिक परंपरा के विरोधी होते हुए भी उसकी मानवतावादी चिंतनधारा से अत्यधिक साम्य रखते हैं। इसलिए आर्ष साहित्य के साथ इनका अनुशीलन भी आवश्यक हो जाता है। जैन धर्म में वेदों के देववाद व कर्मकांड का विरोध करते हुए नैतिकता को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसमें मानव जीवन के विकास के लिए सर्वप्रथम नैतिक जीवन की साधना को अनिवार्य बताया गया है।

इसके लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच व्रतों का विधान है। 'सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित्र'—ये तीन मोक्ष के साधन बताए गए हैं, जो मानवीय व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में सहायक हैं। जैन दर्शन में अहिंसा को विश्व-कल्याण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना गया है। इस तरह जैन दर्शन के तात्त्विक एवं व्यावहारिक सिद्धांतों में मानवतावाद के उच्चतम मूल्यों का समावेश है।

बौद्ध धर्म में प्रमुख रूप से अहिंसा, करुणा, नैतिकता और मैत्री-भाव के सिद्धांतों द्वारा दार्शनिक प्रश्नों को महत्त्वहीन बताकर नैतिकता एवं सदाचार पर बल दिया गया है। यही उनके चिंतन का मानवतावादी आधार है। बौद्ध दर्शन में लोक-कल्याण के लिए मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा के नियमित परिशीलन की उपयोगिता बताई गई है और भगवान बुद्ध के मौलिक उपदेशों में आत्मकल्याण और परकल्याण, आत्मार्थ और परार्थ, ध्यान और सेवा का उचित संयोग मिलता है।

इस तरह प्राचीन भारतीय आर्ष साहित्य एवं इसी के समानांतर जैन-बौद्ध परंपरा में मानव-कल्याण की जिस भावना का प्रतिपादन हुआ है, आधुनिक काल में उसे ही मानवतावाद की संज्ञा दी गई है। इनमें मानवतावाद का यह आदर्श विश्व-कल्याण, लोक-कल्याण, लोकहित, वसुधैव कुटुम्बकम्, सार्वभौमिक एकता, सर्वात्मऐक्य, पंचशील पालन, लोकसंग्रह, महाकरुणा, सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय जैसी कल्याणपरक शब्दावलियों में अभिव्यक्त हुआ है।

पश्चिमी चिंतन में मानवतावाद के रूप में स्वतंत्र विचारधारा का प्रतिपादन पश्चिमी पुनर्जागरण और धार्मिक आंदोलन के फलस्वरूप हुआ है। वैज्ञानिक दृष्टि के उदय से लोगों की देवी-देवताओं के स्थान पर मनुष्य में आस्था जगी। फलस्वरूप वे समाज की सेवा को ही ईश्वर की यथार्थ सेवा का रूप मानने लगे।

समकालीन मानवतावादी चिंतन अठारहवीं सदी से लेकर वर्तमान युग तक का प्रतिनिधित्व करता है। समकालीन चिंतन की दिशा मानवताप्रेरित यथार्थवादी आदर्शों की ओर उन्मुख रही है। इस काल में मानवतावादी प्रवृत्तियों का संवहन करने वाले भारतीय विचारकों में प्रमुखतया राजा राममोहन राय, महर्षि दयानंद, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, रवींद्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी, विनोबा, श्रीअरविंद, डॉ० राधाकृष्णन्, पं० जवाहरलाल नेहरू एवं आचार्य श्रीराम शर्मा आदि हैं।

तृतीय अध्याय है—आधुनिक मानवतावादी दृष्टि और आचार्यश्री का चिंतन। इस अध्याय में मानववाद व मानवतावाद में भेद स्पष्ट करते हुए, मानवतावादी विभिन्न सिद्धांतों तथा सर्वधर्म समन्वय, धर्मनिरपेक्षता व आचार्यश्री के चिंतन में मानवतावाद के स्वरूप का उल्लेख किया गया है।

मानव मूल्यों और मानव गौरव की स्थापना करने वाली विचारधारा को मानववाद कहा गया है। मानववाद का अर्थ है—मानव संबंधी विचार-दर्शन अथवा चिंतन-धारा। इसमें मानव जीवन के सर्वश्रेष्ठ रूप का प्रतिपादन करने का प्रयास किया गया है। मानववादी दर्शन विशेष रूप से मनुष्य मात्र की समस्याओं को ही अपने अध्ययन का केंद्रबिंदु बनाकर उदित हुआ है और इसकी चिंतनपद्धति अतिभौतिकवादी विरोधी है। इसकी रुचि मानवीय विकास में है।

मानवतावाद मानव-कल्याण की वह विशिष्ट चिंतनधारा है जो मानव व्यष्टि को अपना प्रतिपाद्य बनाकर विश्वकल्याण एवं जीवमात्र की हित-कामना करती है तथा मानव को आदर्श बनाने और उसके मानवीय गुणों के विकास पर बल देती है। मानवतावाद की सबसे बड़ी विशेषता है—मानव का उत्थान करना तथा उसका आदर्श रूप समाज के सम्मुख प्रस्तुत कर, उसे अनुकरणीय बनाना। मानवतावाद की विचारधारा मानवीय गुण संवर्द्धन का चिंतन है और नैतिक अर्थ में धर्मशास्त्रीय भाव से बिल्कुल भिन्न है। यह वास्तव में मानवीय नियमों और सिद्धांतों का उदात्त अध्ययन है।

मानववाद व मानवतावाद में एक मुख्य अंतर यह है कि मानववादी चिंतन मूलतः भौतिकवादी और नैतिक दृष्टि पर आधारित है; जबकि मानवतावाद आंतरिक और आध्यात्मिक जीवन को भी महत्त्व देता है। मानवतावाद की भावना का संबंध मानव के सहज स्वाभाविक गुणों और उनके विकास से है। यह सहज रूप में मानव-अनुभूति के रूप में स्वयं पल्लवित होता है।

मानवतावाद समाज में व्याप्त परंपराओं, रूढ़ियों, अंधविश्वासों, हठवादिता, पूर्वाग्रह, संकीर्णता, सांप्रदायिकता, बाह्याडंबर तथा संकुचित विधि-निषेध का विरोध करते हुए व्यापक दृष्टिकोण अपनाता है; जबकि मानववादी चिंतन में इस व्यापकता का अभाव है। वस्तुतः मानववादी चिंतन एक विशेष ज्ञानपद्धति है, जिसका संबंध प्रतिभाशालियों से है और यह भावनाओं, संवेदनाओं की अपेक्षा बौद्धिकता और तार्किकता को महत्त्व देता है, किंतु मानववाद की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि वह मानव को पूर्ण और समर्थ मानता है। उसके अनुसार मानव ही इस सृष्टि का केंद्र और सृजनशील प्राणी है; जबकि मानवतावाद का विषय समस्त सृष्टि और प्राणीमात्र है।

चतुर्थ अध्याय है—आचार्यश्री के आध्यात्मिक मानवतावाद का स्वरूप। इस अध्याय में आचार्यश्री के संदर्भ में मानवतावादी जीवन-साधना के स्वरूप का उल्लेख करने के साथ उनके द्वारा दिए गए जीवन-साधना के विविध प्रयोगों व वैज्ञानिक अध्यात्मवाद को स्पष्ट किया गया है। इस अध्याय में आध्यात्मिक मानवतावाद के नवनिर्माण में आचार्यश्री द्वारा विनिर्मित युग निर्माण योजना की भूमिका का भी स्पष्ट उल्लेख है।

आचार्यश्री की जीवन-साधना का उद्देश्य और निष्कर्ष, दोनों ही विश्व मानवता का उत्थान हैं। आचार्यश्री की प्रचंड जीवन-साधना और उनका प्रखर चिंतन उनके मानवतावादी दर्शन के विविध आयामों को प्रकट करते हैं—जैसे १. संवेदनशील हृदय से मानवता का पोषण, २. साधनात्मक जीवन, ३. मानवतावादी जीवन दृष्टि, ४. मानवतावादी भाव-संवेदना, ५. मानव कल्याण हेतु साहित्य-सृजन आदि। आचार्यश्री ने यह स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मेरी साधना का उद्देश्य किसी मोक्ष या निर्वाण की खोज नहीं है, इसका मुख्य उद्देश्य मानवतावादी जीवन एवं उसके अस्तित्व का परिवर्तन है।

आचार्यश्री के पास असंख्य दुखी लोग रोते-बिलखते हुए आए और हँसते हुए लौटे। वे मानवीय चेतना के मर्मज्ञ ऋषि थे, उन्होंने व्यक्तियों के समस्त प्रकार के दुःख-कष्टों का निदान किया। आचार्यश्री ने समस्याओं के मर्मबिंदु की अनुभूति की थी और आजीवन मानवता से निस्स्वार्थ प्रेम करते हुए अपने करुण हृदय से समुचित और समर्थ समाधान की निरंतर खोज करते रहे। आचार्यश्री ने मानवता के हित के लिए सत्साहित्य का सृजन किया। उन्होंने तीन हजार से अधिक छोटी-बड़ी पुस्तकों में धर्म, दर्शन, तंत्र, ज्योतिष, अध्यात्म, साहित्य, समाज, संस्कृति, राष्ट्र आदि विभिन्न विषयों पर अपना चिंतन प्रकट किया है।

आचार्यश्री के अनुसार—**यदि मुझे कभी महसूस करना हो, तो मेरे साहित्य में मुझे पाओगे। मेरी आत्मा, मेरी लेखनी, मेरे साहित्य में निवास करती है, इसके एक-एक शब्द समाज को एक नई दृष्टि प्रदान करते हैं।** आचार्य जी का मौलिक चिंतन विभिन्न विचारधाराओं के आधारभूत सिद्धांतों की सीमाओं में न बँधकर व्यापक और सार्वभौमिक स्तर पर मानवीय एकता के सूत्रों का प्रतिपादन करता है। एक ओर वे धार्मिक और वैज्ञानिक चिंतन को एकदूसरे के पूरक मानते हैं, वहीं दूसरी ओर वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का संबंध भी उनके लिए अन्योन्याश्रित है।

पंचम अध्याय है—आध्यात्मिक मानवतावाद की प्रासंगिकता। इस अध्याय में वर्तमान जीवनशैली में मानवीय मूल्यों की क्या स्थिति है? सामयिक समस्याओं को दूर करने में आध्यात्मिक मानवतावाद किस तरह सहायक है तथा आध्यात्मिक मानवतावादी जीवन का स्वरूप एवं उसकी उपलब्धियाँ क्या हैं? यह बताने का प्रयास किया गया है।

वर्तमान जीवनशैली में वैज्ञानिक दृष्टिकोण और भोगवादी प्रवृत्तियों ने जीवन के बाह्य कलेवर में तो चमक पैदा की है, लेकिन मनुष्य के आंतरिक जीवन को खोखलेपन व ओछेपन से भर दिया है। इसके कारण मनुष्य की समस्याएँ विकराल रूप में उसके सम्मुख हैं। इन समस्याओं के समाधान रूप में आचार्यश्री के मानवतावादी दृष्टिकोण को सार्थक उपाय कहा जा सकता है। आचार्यश्री के आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तात्पर्य है—जीवन के उच्चतम मूल्यों की ओर उन्मुख जीवनशैली, जिसमें ओछी-भ्रष्ट मान्यताओं, अंधविश्वासों, भ्रांतियों

और अज्ञान-अनाचार के स्थान पर विवेकसम्मत मान्यताओं का अवलंबन हो तथा प्रेम, आत्मीयता, मैत्री, सहयोग, सदाचार जैसी सत्प्रवृत्तियों का पोषण हो—यही आध्यात्मिक मानवतावाद की प्रक्रिया भी है।

षष्ठ अध्याय है—उपसंहार। इस अध्याय में उपर्युक्त सभी अध्यायों के सार-संक्षेप को प्रस्तुत करके निष्कर्ष निकाला गया है। आचार्यश्री के अनुसार—अपने पूर्वजों की तुलना में मनुष्य आज कहीं अधिक समृद्ध व सौभाग्यशाली है, परंतु उसके भावनात्मक रिश्ते, स्नेह, सहयोग जैसे जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में श्मशान जैसी वीभत्स भयंकरता छायी हुई है; जबकि इस प्रगतिशील युग में इसका उलटा होना चाहिए था कि लोग अधिक समृद्ध, सुसंस्कृत दिखाई पड़ते, प्रसन्न रहते, प्रगति करते और प्रगति-पथ पर अपने कदम बढ़ाते। आचार्यश्री के अनुसार—इन वैयक्तिक समस्याओं का हल तभी निकलेगा, जब मानवीय अंतःकरण में उत्कृष्ट आस्थाओं के बीजारोपण तथा परिपोषण का प्रयास युद्धस्तरीय तत्परता के साथ आरंभ होगा। मानवीय मूल्यों और नीति-नियमों की मर्यादा का उल्लंघन ही व्यक्ति के वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में अनेकानेक आधि-व्याधियों, क्लेश-कलहों, विक्षोभ-विद्रोहों, अभाव-अतिक्रमण का निमित्त कारण बना हुआ है। असंयम शरीर का, असंतुलन मस्तिष्क का, आलस्य उत्कर्ष का, अपव्यय समृद्धि का, अनुदारता एवं अनाचार सहयोग-सद्भाव का मार्ग अवरुद्ध करता है और इस तरह व्यक्तित्व का पिछड़ापन एवं निकृष्टता से सना हुआ दृष्टिकोण ही इस वैयक्तिक विघटन और समस्याओं का मूल कारण है और इसका एकमात्र समाधान है—जीवन में अध्यात्मवादी मान्यताओं का समावेश।

सोते हुए छत्रपति शिवाजी पर एक बालक ने प्रहार करने का प्रयास किया, परंतु उसे सेनापति तानाजी ने पकड़ लिया। बाद में शिवाजी ने उससे पूछा—"तुम कौन हो और यहाँ क्यों आए थे?" बालक ने उत्तर दिया—"मेरा नाम मालोजी है और मैं आपकी हत्या करने के लिए यहाँ आया था।" शिवाजी ने पूछा—"तुम मेरी हत्या क्यों करना चाहते हो?" बालक बोला—"मेरे पिता आपकी सेना में एक सैनिक थे। उनके युद्ध में मारे जाने पर हमें राज्य की ओर से कोई सहायता नहीं मिली। घर में अनाज नहीं था। माँ तो कई दिनों से बीमार पड़ी है। मैं भोजन की तलाश में घर से निकला था कि आपके शत्रु सुभागराय ने मुझे बताया कि शिवाजी कितना निष्ठुर है, तुम्हारे पिता की मृत्यु के उपरांत उसने तुम्हारा तनिक भी ध्यान नहीं रखा, इसलिए तुझे शिवाजी से बदला लेना चाहिए। यदि तू उन्हें मार आएगा, तो मैं तुझे बहुत सारा धन दूँगा। इसलिए मैं आपको मारने चला आया।"

तानाजी ने कहा—"दुष्ट! अब तू अपने दुष्कृत्य हेतु मरने के लिए तैयार हो जा।" बालक ने कहा—"मृत्यु से मैं बिलकुल भी नहीं डरता, परंतु मैं एक बार अपनी मरणासन्न माँ के दर्शन करने जाना चाहता हूँ। मैं वचन देता हूँ कि कल प्रातः लौट आऊँगा।" महाराज ने आज्ञा दे दी। दूसरे दिन सवेरे बालक दरबार में उपस्थित होकर बोला—"महाराज! मैं अब मृत्युदंड के लिए तैयार हूँ।" शिवाजी का दिल पिघल गया। उनने कहा—"ऐसे चरित्रवान बालक को मैं मृत्युदंड न दे सकूँगा। मालो! तेरे जैसे रत्न ही देश व जाति का गौरव बढ़ा सकते हैं।" शिवाजी ने उसे सेना में नौकरी दे दी।

सूर्य पर संयम करने से होता है समस्त लोकों का ज्ञान

अंतर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग रहस्यमय हैं और रहस्य को उजागर-अनावृत करते हैं। इनके सूत्रों का उच्चारण, व्याकरण, इनका अर्थ और फिर अर्थबोध, इनके प्रयोग, प्रक्रिया, प्रभाव व परिणाम की तरह बहुआयामी रहस्यमयता सँजोए हैं। जो इनमें निमग्न होने का प्रयास करते हैं, उनकी जिह्वा, मन, बुद्धि एवं प्रज्ञा क्रमिक रूप से पवित्र व प्रकाशित होती है। इन्हें जितना समझा जाए उतना ही और समझना बाकी रह जाता है। जितना अनुभव किया जाए, उतनी ही अनुभूतियाँ शेष बनी रहती हैं।

ऐसा ही है विलक्षण अंतर्यात्रा विज्ञान, इसके सूत्र व प्रयोग। इनसे जीवन, चेतना व प्रकृति के सत्यों का परत-दर-परत ज्ञान होता है। इस ज्ञान के साथ जीवन में प्रकाशित होती हैं—रहस्यमय शक्तियाँ व विभूतियाँ। सब कुछ निर्भर करता है योगसाधक की निष्कपट साधना पर, जिसका साक्षी वह स्वयं होता है, साथ ही इसके साक्षी बनते हैं, स्वयं प्रकृति व परमेश्वर। जिन्हें इसका अनुभव है, वे सभी जानते हैं कि निष्कपट व समर्पित साधक के लिए प्रकृति स्वयं पथ बन जाती है और वह उसे परमेश्वर तक पहुँचा देती है।

इस योगकथा की पिछली कड़ी में संयम जो कि धारणा, ध्यान व समाधि का सम्मिलित रूप है, उसके इसी प्रभाव की विवेचना की गई थी। इसमें कहा गया था कि ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का प्रकाश डालने से योगसाधक को सूक्ष्म, व्यवधान युक्त और दूर देश में स्थित वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। रहस्यमयता कहीं भी हो, किसी तरह की हो, प्रकाशित प्रज्ञा से सब कुछ अनावृत, उद्घाटित हो जाता है। वह प्रकाशित प्रज्ञा ही योगसाधक की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है। इसका प्रकाश व विकास चित्त शुद्धि के साथ व इसके अनुरूप क्रमिक रूप से होता है। जैसे-जैसे अंतर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग परिपक्व व प्रगाढ़ होते हैं, वैसे-वैसे चित्त शुद्ध होता है और प्रज्ञा प्रकाशित होती है। फिर इसके प्रभाव व परिणाम में सब कुछ स्पष्ट होता जाता है। जीवन व प्रकृति के सारे रहस्य क्रमिक रूप से प्रकट, स्पष्ट, उजागर व अनावृत होने लगते हैं।

इसी क्रम में महर्षि पतंजलि अपने अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं—

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्॥ ३/२६॥

शब्दार्थ= **सूर्ये**= सूर्य में; **संयमात्**= संयम करने से; **भुवनज्ञानम्**= समस्त लोकों का ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ= सूर्य पर संयम करने से संपूर्ण सौर ज्ञान और भुवन ज्ञान की उपलब्धि होती है।

अनूठा है यह सूत्र और रहस्यमय भी। महर्षि पतंजलि ने इस सूत्र में सूर्य पर संयम करने की बात कही है। लेकिन सूर्य क्या है, इसके स्वरूप को कैसे समझें? योगसूत्र पर व्याख्या करने वाले मनीषियों, योगियों व विद्वान साधकों ने इस पर अपने अलग-अलग मत प्रकट किए हैं। इन सभी के अपने-अपने तर्क हैं, इसलिए प्रस्तुत अनुभव की गहनता व संपूर्णता अप्रकट रह जाती है। युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव की सूर्य-साधना जीवनव्यापी थी। उन्होंने सूर्य-साधना के विविध आयामों पर गहन अन्वेषण-अनुसंधान किए थे। उनकी अनुभूतियाँ इस सूत्र के सत्य को प्रकट करने में सक्षम हैं। सामान्य बौद्धिक क्रम में इस सूत्र की तर्कपूर्ण व्याख्या तो संभव है, परंतु इसका यथार्थ बोध संभव नहीं है।

युगऋषि पूज्य गुरुदेव का कहना था—सूर्य दृश्यमान सत्य है। आकाश से प्रकाश, ऊष्मा व ऊर्जा का धरतीवासियों को नित्य अनुदान देने वाले सूर्य को हम अपनी आँखों से रोज देखते हैं, लेकिन यह सूर्य एकाकी या अकेला नहीं है। इसका अदृश्य संबंध दो सूर्यों से और भी है। इनमें से पहला है महासूर्य, जो कि इस सूर्य के प्रकाश का मूल स्रोत है। वेद की ऋचाओं के उद्गाता महर्षियों ने इसकी स्तुति जगत की आत्मा के रूप में की है। इसके अलावा अंतर्गगन में प्रकाशित होने वाला सूर्य भी है। इस अंतस्थ सूर्य को आध्यात्मिक साधक व योगीजन अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों में देखते हैं। इस महत्त्वपूर्ण सूत्र के अर्थबोध के लिए इन तीनों के पारस्परिक संबंधों का ज्ञान अनिवार्य है।

महासूर्य—सूर्य का वह स्वरूप है, जो जीवन एवं जगत का स्रोत है। इस समस्त सृष्टि के सृजन का उद्‌गम है, जगत की आत्मा व आधार है। यह दृश्यमान सूर्य तो बस, उसका लघु अंश है। हालाँकि अंश होने पर भी हमें गगन में दिखाई देने वाला सूर्य उससे सर्वथा अभिन्न है। इसीलिए इसकी पहचान परमात्मा के रूप में भी की जाती है। परमात्मा का एक नाम नारायण होने के कारण आकाश में दृश्यमान सूर्य को सूर्यनारायण भी कहा जाता है। जो एकता-अभिन्नता आकाश में दृश्यमान सूर्य एवं महासूर्य में है, ठीक वही एकात्मता, अंतस्थ सूर्य व महासूर्य में भी है। अध्यात्मविद्या के आचार्य इसको आत्मा व परमात्मा की एकता के रूप में पहचानते हैं। उपनिषद् के ऋषियों ने इसी सत्य को '**अयमात्मा ब्रह्म**' कहकर निरूपित किया है। यह निरूपण प्रकारांतर से अंतस्थ सूर्य व महासूर्य की एकात्मता का उद्‌घोष है। इस सत्य की आध्यात्मिक अनुभूति भी है।

कुछ ऐसी ही एकात्मता अंतस्थ सूर्य व गगन में उदय होने वाले सूर्य में भी है। योग की भाषा में मनुष्य एक लघु ब्रह्मांड है। सूक्ष्म ढंग से मनुष्य एक छोटा-सा ब्रह्मांड है। मनुष्य एक छोटे से अस्तित्व में सघन रूप से समाया हुआ है। यह जो संपूर्ण ब्रह्मांड है, यह और कुछ नहीं, मनुष्य का विस्तार ही है। यह भाषा योग की है। लघु ब्रह्मांड, संपूर्ण ब्रह्मांड। '**यत्पिण्डे-तत्‌ब्रह्माण्डे**', जो पिंड में वही ब्रह्मांड में। जो कुछ बाहर अस्तित्व रखता है ठीक वही मनुष्य के भीतर अस्तित्व रखता है। बाहर के सूर्य की भाँति मनुष्य के भीतर भी सूर्य छिपा हुआ है। बाहर के चंद्रमा की ही भाँति मनुष्य के भीतर भी चंद्रमा है। महर्षि पतंजलि अपने इस सूत्र में हमें अंतर्जगत के व्यक्तित्व का संपूर्ण भूगोल दे देना चाहते हैं। इसलिए जब वे कहते हैं कि '**भुवन ज्ञानं सूर्ये संयमात्**' सूर्य पर संयम करने से संपूर्ण भुवनों का ज्ञान होता है तो उनका संकेत बाहरी सूर्य के साथ आंतरिक सूर्य की ओर भी है। उनका मतलब अंतस्थ व बाह्य सूर्य की एकता व एकात्मता से है।

इसका एक पहलू यह भी है कि बाहरी सूर्य पर एकाग्र होने पर आंतरिक सूर्य पर एकाग्र होने की योग्यता आती है। ठीक इसी तरह आंतरिक सूर्य पर एकाग्र होने से बाहरी सूर्य पर एकाग्र होने की प्रतिभा विकसित होती है। जो इस सत्य को समझ जाता है, उसके सामने खगोलीय रहस्य व अस्तित्व के सूक्ष्म रहस्य उजागर होने लगते हैं। पुराणों में चौदह भुवनों की चर्चा की गई है। ये सभी भुवन स्थूलजगत में नहीं हैं। स्थूलजगत का अर्थ केवल धरती से नहीं, बल्कि जगत की सूक्ष्मप्रकृति से है। इन चौदह भुवनों में से कुछ का संबंध स्थूलप्रकृति से है और कुछ का सूक्ष्मप्रकृति से। संक्षेप में कहें तो प्रकृति के चौदह आयाम, चौदह भुवन हैं। इनमें से प्रत्येक में अपने ढंग का सृष्टिसृजन है। अपने ढंग का संसार है।

जब हम सूर्य पर संयम करते हैं तो हमारी प्रकाशित प्रज्ञा और भी प्रखर व प्रदीप्त होती है। साथ ही संयम की ऊर्जा से अंत:अस्तित्व व बाह्य अस्तित्व के समस्त द्वार खुलते हैं। तब हम गमन कर सकते हैं, इन विभिन्न भुवनों में। इन्हें जान सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं। यहाँ तक कि उन भुवनों के वासियों से संवाद स्थापित कर सकते हैं। हाँ! यह सत्य है, योग-साधना का सत्य, जो समाधि की अवस्था में स्पष्ट होता है। उसी अवस्था में इस अनुभव को समझा भी जा सकता है।

इस प्रसंग में एक बात यहाँ और कहनी है कि सूर्य पर संयम करने से न केवल चौदह भुवनों का ज्ञान होता है, बल्कि हमें असाधारण ऊर्जा की प्राप्ति होती है। इस असीमित एवं अपरिमित ऊर्जा के उपयोग तो अनेकों हैं, परंतु उनमें से एक उपयोग लोक-लोकांतरों में गमन भी है। विभिन्न भुवनों में गमन इस ऊर्जा के बिना संभव नहीं। इसलिए सूर्य पर संयम अनिवार्य है, प्रकृति के सत्य के बोध के लिए। इसके प्रत्येक आयाम का ज्ञान सूर्य संयम से सहज हो जाता है। जितना अधिक सूर्य पर संयम होगा, उतना ही खगोल व अंत:भूगोल स्पष्ट होंगे।

रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन।
निर्विकल्पोऽसि बोधात्मा निर्विकारः सुखं चर॥ *—अष्टावक्र गीता*

राग और द्वेष मन के धर्म हैं, तुम्हारे नहीं हैं। तू कभी मन नहीं है। तू निर्विकल्प, निर्विकार, बोधरूप आत्मा है। तू इसमें सुखपूर्वक विचरण कर।

श्रीराम भक्ति की साधना—७६

महर्षि मतंग की कार्य-योजना

अपने पुत्र हनुमान की बातों को देवी अंजनी पूर्ण मनोयोग से सुन रही थीं। साथ ही उनकी दृष्टि महर्षि मतंग के मुख की ओर भी थी। उन्होंने देखा कि हनुमान के प्रति महर्षि के मुख पर सराहना व स्वीकारोक्ति के भाव थे। वानरराज केसरी, ऋक्षराज जांबवान एवं महामंत्री वसुषेण, ये तीनों भी हनुमान की विचारशीलता, दूरदृष्टि, चिंतन की व्यापकता व समग्रता को देखकर हर्षित थे। हालाँकि अभी कोई कुछ कह नहीं रहा था। हनुमान भी अपनी बात कहकर चुप हो गए थे। सब को महर्षि मतंग के कथन की प्रतीक्षा थी। वह भी इस समय अपने चिंतन में डूबे थे। इन सबके बीच शबरी शांत थी। कुछ पलों बाद इस वातावरण की नीरवता को तोड़ते हुए महर्षि ने कहा—"वत्स हनुमान का कथन सामयिक एवं समयोचित है। यह सच है कि दशानन रावण मात्र एक व्यक्ति नहीं, एक विचारधारा है, जीवनशैली है। भले ही यह कितनी विकृत हो, परंतु वर्तमान समय में इसका पर्याप्त प्रसार हो चुका है और होता जा रहा है। युग की इस विकृति को, आस्था के इस संकट को रोकने के लिए हमें भी उसी अनुरूप व्यूहरचना करनी होगी।"

"इसके पहले क्रम में हमें अपने समय के महान तपस्वियों, महर्षियों को इस अभियान में साथ लेना होगा। वैसे प्रायः सभी महर्षि युग की इस विडंबना से सुपरिचित हैं। अपने-अपने ढंग से वे इससे निबटने की कोशिश कर रहे हैं, लेकिन वर्तमान की आवश्यकता उन्हें व्यूहबद्ध करने की है। इससे सामर्थ्य का सम्मिलन भी होगा और कार्य का उचित विभाजन व दायित्व निर्धारण भी हो जाएगा। मेरे विचार से हमें जिन महर्षियों से अपने कार्य हेतु सबसे पहले संपर्क करना होगा, वे हैं—ब्रह्मर्षि वसिष्ठ, ब्रह्मर्षि विश्वामित्र, तीर्थराज प्रयाग में गुरुकुल संचालन कर रहे ऋषि भरद्वाज, तप के महापुंज ऋषि वाल्मीकि और ऋषि अत्रि तथा उनकी पत्नी अनसूया, परमहंस अवस्था को प्राप्त शरभंग, गुरुभक्त सुतीक्ष्ण तथा महातेजस्वी तथा देवाधिदेव महादेव के महान भक्त व शिष्य महर्षि अगस्त्य।"

महर्षि द्वारा कही जा रही सभी बातों को सब ध्यान से सुन रहे थे। इन सभी सुनने वालों ने ऋषि मतंग को ध्यान से देखा। उनकी दृष्टि में कुछ ऐसा था, जैसे कि वह सभी से यह पूछ रहे हों कि यदि किसी की कोई जिज्ञासा हो तो वह सहज क्रम में पूछ सकता है। महर्षि की इस दृष्टि का आशय समझा तो प्रायः सभी ने, परंतु अपनी जिज्ञासा प्रकट की केवल महामंत्री वसुषेण ने। उन्होंने पूछा—"हे ऋषिश्रेष्ठ! आर्यावर्त की धरती तो ऋषि भूमि है। यहाँ पर स्थान-स्थान पर अनेक ऋषिगण तप-साधना कर रहे हैं। इनमें से प्रायः सभी महाज्ञानी हैं, फिर आपने इन्हीं महर्षियों का नाम क्यों लिया?" वसुषेण के इस प्रश्न को सभी ने गंभीरता से सुना और सबके सब महर्षि की ओर देखने लगे। संभवतः वसुषेण की इस जिज्ञासा में सबकी जिज्ञासा अंतर्निहित थी। उत्तर में महर्षि मतंग ने सबकी ओर एक अर्थपूर्ण दृष्टि से देखा और फिर हलके से मुस्करा दिए। उन्होंने कहा कुछ भी नहीं।

कुछ पल सभी अपने मन की विचारवीथियों में यों ही भ्रमण करते रहे। हालाँकि इस अवस्था में भी सब के मन महर्षि की ओर उन्मुख थे। तभी महर्षि ने कहा—"यों तो वत्स वसुषेण की जिज्ञासा का सही-सटीक उत्तर नियति के गर्भ में है, फिर भी मेरी अनुभूति कहती है कि इन सभी पुण्य आत्माओं की मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम की अवतार लीला में सहभागिता है। ये सब नियत क्रम में उनसे मिलेंगे और उनका किसी न किसी प्रकार से सहयोग करेंगे। इसलिए यदि इनकी योजनाएँ आपस में मिल सकें तो श्रीनारायण की इस अवतार लीला में सहायता होगी। हालाँकि प्रभु तो सदा सर्वसमर्थ हैं, फिर भी आत्महित, लोकहित के लिए यह श्रेष्ठ होगा।" महर्षि मतंग की आध्यात्मिक शक्तियों से सभी परिचित थे। उनकी यह बात सुनकर सबको उनके कथन के गंभीर आशय का परिचय हुआ।

अब सवाल यह है कि कार्य संभव कैसे होगा, इसे करेगा कौन और इसका प्रारंभ कहाँ से करना चाहिए? इन सारे प्रश्नों को एक साथ स्वयं महर्षि ने उठाया। जैसे

कि उन्होंने सभी की जिज्ञासाओं को शब्द दे दिए हों। इसका उत्तर भी उन्हीं को देना था। इसलिए कोई कुछ बोला नहीं, सभी शांत बने रहे। कुछ पल के बाद महर्षि ने स्वयं कहा—"इस कार्य को संभव करेंगे हमारी पुत्री अंजनी के लाल हनुमान।" इतना कहकर उन्होंने किंचित् मुस्कराकर देवी अंजनी, जांबवंत एवं वानरराज केसरी को देखा। उनके इस कथन से सहमत तो सभी थे, फिर भी अंजनी ने अपनी चिंता जताई। वह बोली—"इस कार्य को करना तो हनुमान का सौभाग्य होगा, फिर भी मेरी चिंता है कि कहीं चपलतावश हनुमान से ऋषिगण क्रोधित न हो जाएँ।" अंजनी की इस चिंता पर मतंग ऋषि हलके से हँस दिए। फिर बोले—"पुत्री! अब हमारा हनुमान बड़ा हो गया है। वह अपने वर्तमान में पहले जैसा नहीं है। उसने आत्मनियंत्रण सीख लिया है। उसके बारे में तुम्हें विचार करते हुए यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारा हनुमान भगवान सूर्य का श्रेष्ठतम शिष्य है।

"इन गुणों के अलावा एक महत्त्वपूर्ण सत्य यह भी है कि हनुमान ने श्रीराम के कार्य के लिए जन्म लिया है। इसलिए जब-जब रामकाज हनुमान के सामने होगा, तब उससे तनिक भी प्रमाद नहीं होगा। प्रभु श्रीराम के कार्य में हनुमान से भूलकर भी भूल नहीं होगी।" महर्षि जब ये सभी बातें देवी अंजनी से कह रहे थे, तब हनुमान अपनी माता के पास बैठे मंद-मंद मुस्करा रहे थे। अंजनी की चिंता, महर्षि के कथन एवं हनुमान की मुस्कान को ऋक्षपति जांबवंत बड़े ध्यान से देख रहे थे। साथ ही मन ही मन सोच रहे थे कि हे महारुद्र! धन्य है आपकी लीला।

अपने भावों में इस तरह से खोए जांबवंत को हनुमान ने टोका और कहा—"कहाँ खो गए काका!" इस सवाल के उत्तर में जांबवंत ने कहा—"बस, मैं तो प्रभु की लीला के बारे में सोच रहा था।" जांबवंत की इस बात को सुनकर महर्षि बोले—"आप धन्य हैं ऋक्षपति, जो प्रभु की इस लीला में उनके सहयोगी, सहायक एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले बनेंगे।"

ऐसा कहते हुए उन्होंने गहरी साँस लेते हुए कहा—"सब को यह सौभाग्य नहीं मिलता।" इस कथन के साथ ही महर्षि के मुख पर हलकी-सी उदासी की रेखा झलकी, लेकिन फिर तुरंत ही उन्होंने स्वयं को नियंत्रित कर लिया और मुस्करा दिए। उनकी इस मुस्कान को देखकर अंजनी ने कहा—"आपकी बातों से मेरी चिंता सर्वथा दूर हो गई। मुझे आपके विश्वास पर पूरा विश्वास है।" अंजनी के इतना कहने पर हनुमान ने नटखट स्वर में पूछा—"और माँ मुझ पर?" उत्तर में अंजनी ने हँसकर कहा—"हाँ! हाँ!! तुझ पर भी।" उनकी इस बात पर हनुमान ने गंभीरता से कहा—"माँ! आपका विश्वास ही मेरी भक्ति, शक्ति एवं सफलता का संपूर्ण आधार है।" इन सभी बातों को सुन रहे वानरराज केसरी ने कहा—"अब यदि माता-पुत्र की बातें समाप्त हो चुकी हों तो आगे के कार्य पर विचार कर लिया जाए।"

"अवश्य!"—देवी अंजनी, हनुमान एवं महर्षि ने एक साथ कहा और फिर एक साथ ही मुस्करा दिए।" "आगे की कार्य-योजना यह है कि इस कार्य को वत्स हनुमान अयोध्या से प्रारंभ करेंगे। वहाँ उन्हें प्रभु श्रीराम के दर्शन होंगे और ब्रह्मर्षि वसिष्ठ के साथ विचार-

ध्यान का अर्थ है—अपनी मानसिकता को लक्ष्य-विशेष पर अविचल भाव से केंद्रीभूत किए रहना।

—परमपूज्य गुरुदेव

विमर्श का सौभाग्य भी प्राप्त होगा।" मतंग के इस कथन ने हनुमान को तो आह्लादित कर दिया। उनके रोम-रोम से श्रीराम नाम का मंद-मधुर गुंजार होने लगा। "अयोध्या का राजकुल एवं हनुमान का कपिरूप?"—इस बार चिंता के स्वर केसरी के थे।

केसरी की इस चिंता को सुनकर महर्षि ने हँसकर कहा—"तनिक-सी भी चिंता न करें कपिराज। इस कार्य का शुभ आरंभ एवं आयोजन कौन करने वाला है! जब आप यह जानेंगे तो आपकी सारी चिंता दूर हो जाएगी।" महर्षि के स्वरों में अतिशय प्रसन्नता थी। इससे सभी की जिज्ञासा और भी बढ़ गई। पूछा तो किसी ने कुछ भी नहीं, पर जानना सभी चाहते थे, लेकिन महर्षि ने वार्ता का रुख दूसरी ओर मोड़ते हुए कहा—"पहले हम अपनी योजना के अन्य कार्यों पर विचार करेंगे, फिर इसके बारे में।"

सृष्टि का उद्गम भी वही हैं और विध्वंस भी वही

(श्रीमद्भगवद्गीता के विश्वरूपदर्शनयोग नामक एकादश अध्याय की आठवीं किस्त)

[एकादश अध्याय की सातवीं किस्त में तेरहवें व चौदहवें श्लोक की व्याख्या की गई थी। इनमें से तेरहवें श्लोक में महाराज धृतराष्ट्र के सारथी संजय ने भगवान श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूप के एक अन्य आयाम को रखते हुए उनसे कहा—''हे राजन्! प्रभु श्रीकृष्ण के ऐसे आश्चर्यमय रूप को देखते हुए, पांडुपुत्र अर्जुन ने उस समय अनेक प्रकार से विभक्त अर्थात पृथक-पृथक संपूर्ण विश्व को देवों के देव विश्वरूप भगवान के उस शरीर में एक जगह स्थित देखा।'' संजय का यह कथन, अर्जुन का यह दिव्य दर्शन आश्चर्यपूर्ण होते हुए भी सत्य है। भगवान इस संपूर्ण सृष्टिसृजन का आदि, मध्य और अंत हैं। वे इस जगत की मूल ऊर्जा हैं और आधार भी। इसलिए उनमें सब कुछ है। भगवान के इस परम स्वरूप से बाहर कहीं कुछ भी नहीं। वही अथ हैं और वही इति, फिर भी वह इस अथ व इति से सर्वथा पार व परे हैं।

भगवान श्रीकृष्ण में इस अनेकात्म जगत की एकात्मता बताने के बाद संजय ने धृतराष्ट्र से अर्जुन की भावदशा कही। अर्जुन उस युग की मानव-चेतना के शिखर हैं। उनका व्यक्तित्व बौद्धिक, भावात्मक एवं व्यावहारिक प्रतिभा से परिपूर्ण है। वह पराक्रमी योद्धा हैं, महावीर हैं, साथ ही नीतिकुशल व धर्मपरायण भी। वह शस्त्र के विशेषज्ञ हैं तो शास्त्र के भी। अनेक पुराणकथाएँ अर्जुन की इस विशेषता, कुशलता व प्रवीणता की चर्चा करती हैं। प्रतिभासंपन्न, सांसारिक साधनों से समर्थ व्यक्ति प्रायः अभिमानी हो जाते हैं, लेकिन अर्जुन ऐसे नहीं हैं, वह भगवान के अनन्य भक्त हैं। अनुभूति के इन क्षणों में उनकी भक्ति प्रकट हो रही है। वह श्रद्धा सहित, सिर से प्रणाम करके, प्रकाशमय विश्वरूप परमात्मा के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े हैं]

श्रद्धा व आश्चर्य से परिपूर्ण पुलकित शरीर अर्जुन अपना सिर झुकाकर श्रीभगवान से कह रहे हैं-

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥

शब्द विग्रह= पश्यामि, देवान्, तव, देव, देहे, सर्वान्, तथा, भूतविशेषसङ्घान्, ब्रह्माणम्, ईशम्, कमलासनस्थम्, ऋषीन्, च, सर्वान्, उरगान्, च, दिव्यान्।

शब्दार्थ= अर्जुन बोले (**अर्जुन उवाच**), हे देव मैं (**देव**), आपके (**तव**), शरीर में (**देहे**), संपूर्ण (**सर्वान्**), तथा (**तथा**), अनेक भूतों के समुदायों को (**भूतविशेषसङ्घान्**), कमल के आसन पर विराजित (**कमलासनस्थम्**), ब्रह्मा को (**ब्रह्माणम्**), महादेव को (**ईशम्**) और (**च**), संपूर्ण (**सर्वान्**), ऋषियों को (**ऋषीन्**), तथा (**च**), दिव्य (**दिव्यान्**), सर्पों को (**उरगान्**), देखता हूँ (**पश्यामि**)।

अर्जुन देख रहे हैं श्रीभगवान के विराट रूप को। इस अद्भुत अनुभूति ने अर्जुन को श्रद्धा से भर दिया है। श्रद्धा से ओत-प्रोत है अर्जुन। यही सचाई और सार्थकता है गुरु और शिष्य के रिश्ते में। गुरु अनुभूति देता है शिष्य को और शिष्य श्रद्धा अर्पित करता है गुरु को। गुरु विद्वान हो, बुद्धिमान हो, यह जरूरी नहीं है, परंतु उसे गहन-मौलिक व चेतना के उच्च आयामों की अनुभूति कराने में सक्षम होना चाहिए। साथ ही शिष्य को इसे धारण, ग्रहण एवं आत्मसात् करने में सक्षम होना चाहिए। रूस के काकेशस प्रदेश में एक बहुत अद्भुत व्यक्ति पिछली सदी में हुए

थे। उनका नाम था जार्ज गुरजिएफ। उन्होंने अध्यात्म के गहनतम अनुभव पाए थे। उनके ये अनुभव ऐसे उच्च थे, जो युगों में लोगों को प्राप्त हो पाते हैं। लेकिन वह बहुत कुछ कबीर जैसे थे। एकदम अक्खड़-फक्कड़-अनपढ़। **'मसि कागद छुओ नहि, कलम गही नहि हाथ'**। कबीर की यह उक्ति उन पर पूरी तरह से लागू होती थी। विद्वान न होने के बावजूद वह अनुभव प्रदान करने में सक्षम थे। उनके शिष्य अपने गुरु के सम्मुख श्रद्धा से नतमस्तक रहते थे। उनके शिष्यों में एक था आस्पेंस्की। उसका पूरा नाम था पी० डी० आस्पेंस्की। वह बहुत प्रतिभाशाली था। बड़ा कुशल लेखक था वह, भाषा पर उसका अधिकार था, गणित में उसकी विशेषज्ञता थी। रूस के महान गणितज्ञों में उसकी गणना होती थी। समूची दुनिया में ख्याति थी उसकी, लेकिन साथ में वह सच्चा शिष्य भी था। उसके शिष्यत्व को परखकर गुरजिएफ ने उसे अध्यात्म के विरल अनुभव प्रदान किए थे। उनके द्वारा प्रदान किए गए इन अनुभवों ने आस्पेंस्की को श्रद्धा से ओत-प्रोत व परिपूर्ण किया।

अर्जुन भी श्रद्धा से परिपूर्ण है, भावों से भीगा है, साथ ही भगवान श्रीकृष्ण की अहैतुकी कृपा से वह इन क्षणों में अपनी चेतना के शिखर पर है। वह परमात्मा को अनुभव करने तथा उनसे संवाद करने की स्थिति में है। ऐसी परम अवस्था में वह कहता है—"हे प्रभु! मैं देखता हूँ समस्त भूतों को, समस्त देवों को, कमल पर बैठे हुए ब्रह्मा को और महादेव को।" अर्जुन की इन अनुभूतियों में बड़ी उलट-पुलट है। उन्होंने देखा ब्रह्मा और महादेव को साथ-साथ। ये तो दो छोर हैं—सृष्टि के। ब्रह्मा का अर्थ है—सृष्टि का उद्गम, सृष्टि का सृजन और महादेव का अर्थ है—जो करता है विध्वंस, विनाश। अर्जुन कहते हैं कि मैं साथ-साथ देख रहा हूँ—उसने जिसने जगत को बनाया, उसे देखता हूँ आपके भीतर। वह जो जगत को मिटाता है, उसे भी देखता हूँ आपके भीतर। सृष्टि के सृजन का प्रारंभ भी है आपमें और आपमें ही उसका अंतिम छोर भी है। इतना ही नहीं सारी दिव्य शक्तियाँ दिखाई दे रही हैं आप में।

अद्भुत है अर्जुन का यह दिव्य दर्शन। सृष्टि का सृजन, सृष्टि का विनाश साथ ही सृष्टि का संचालन भी। दिव्य शक्तियाँ या देव शक्तियाँ सृष्टि का संचालन करती हैं। वरुण, कुवेर, बृहस्पति, अग्नि, सूर्य, यही हैं देवता। ये ही हैं दिव्य शक्तियाँ, इन्हीं से होता है सृष्टि का संचालन। अर्जुन इन सबको परमात्मा में, विराट रूप भगवान श्रीकृष्ण में देख रहा है। बात कितनी ही आश्चर्यपूर्ण क्यों न लगे किंतु सत्य है। भगवान से भिन्न कुछ भी नहीं है। जो कहीं भी है, वह सबका सब भगवान में है। इस बात को कहते, सुनते तो सभी हैं, पर अनुभव कम ही कर पाते हैं। अर्जुन उन कम लोगों में, उन विरले लोगों में से है, जिसे यह दिव्य अनुभूति हो रही है। सब कुछ भमवान हैं और सब कुछ भगवान में है। अर्जुन इसी सत्य को अनुभव कर रहा है। वह सब देख रहा है, सभी महर्षियों को और सभी दिव्य सर्पों को।

महर्षियों को परमात्मा में देखना इस तत्त्व और सत्य की अनुभूति है कि भगवान ही हैं समस्त ज्ञान का स्रोत। ज्ञान की जितनी भी धाराएँ हैं, उनकी जो भी विभिन्नताएँ व विशिष्टताएँ हैं, सारी प्रभु से निकली हैं, उन्हीं से प्रकट हुई हैं। ज्ञान प्रकृति का हो या परमात्मा का, पदार्थ का हो या चेतना का, सभी प्रभु से प्रकट हुआ है, ऋषि तो बस, उस ज्ञान के द्रष्टा हैं। धाराएँ धर्म की हों या विज्ञान की, बाहरी जगत में भले ही भिन्न-भिन्न प्रतीत हों, परंतु यथार्थ में इनमें अंतर एकता है। अर्जुन भगवान की चेतना में ऋषियों की उपस्थिति के रूप में इसी सत्य को अनुभव कर रहे हैं।

साथ ही वे भगवान के विराट स्वरूप में सभी दिव्य सर्पों को देख रहे हैं। अनंत, वासुकि, कर्कोटक, महाशंख आदि सर्प। सर्प सृष्टि में रहस्यमय प्राणी हैं। भिन्न-भिन्न प्रतीकों के रूप में इनकी चर्चा की गई है। हालाँकि प्राय: इनकी चर्चा, इनके प्रतीक का प्रयोग ऊर्जाधाराओं के रूप में किया गया है। अर्जुन जब भगवान में समस्त दिव्य सर्पों को देखते हैं, तो वे सृष्टि की समस्त दिव्य ऊर्जाधाराओं को प्रभु में अनुभव कर रहे हैं। परमात्मा न केवल समस्त ज्ञान का स्रोत हैं, बल्कि समस्त ऊर्जा का भी स्रोत हैं। जो भी ऊर्जाधारा, जहाँ कहीं भी जिस किसी रूप में क्रियाशील है, वह उन्हीं से निकली है, उन्हीं का रूप है। भगवान नारायण का शेषनाग पर शयन करना, भगवान शिव का नागों की माला पहनना इसी सत्य को दरसाता है। भगवान ऊर्जा का आधार हैं और ऊर्जास्वरूप भी। सृष्टि की समस्त ऊर्जाएँ उन्हीं से प्रकट हुई हैं। इन्हीं ऊर्जा रूपों को पुराणकथाओं में सर्प के रूप में चित्रित किया गया है।

अपनी इस दिव्य अनुभूति को प्रकट करने के बाद अर्जुन इसके अगले क्रम को कहते हैं—

अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम्॥ १६॥

शब्द विग्रह= अनेकबाहूदर वक्त्रनेत्रम्, पश्यामि, त्वाम्, सर्वतः, अनन्तरूपम्, न, अन्तम्, न, मध्यम्, न, पुनः, तव, आदिम्, पश्यामि, विश्वेश्वर, विश्वरूप।

शब्दार्थ= और- हे संपूर्ण विश्व के स्वामिन्! (**विश्वेश्वर**), आपको (**त्वाम्**), अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्रों से युक्त (**अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्**), तथा सब ओर से (**सर्वतः**), अनंत रूपों वाला (**अनन्तरूपम्**), देखता हूँ (**पश्यामि**), हे विश्वरूप मैं (**विश्वरूप**), आपके (**तव**), न (**न**), अंत को (**अन्तम्**), देखता हूँ (**पश्यामि**), न (**न**), मध्य को (**मध्यम्**) और (**पुनः**), न (**न**), आदि को ही (**आदिम्**)।

विश्वरूप भगवान को देखकर अर्जुन चकित है और श्रद्धा से परिपूर्ण भी। वह कहता है—"हे संपूर्ण विश्व के स्वामिन्! कितने आप के हाथ, कितने पेट और कितने नेत्र!" बात विचित्र है, किंतु सत्य है। अगर हम थोड़ी कल्पना करें, तो बात समझ में आ सकेगी। अगर हम धरती के सारे मनुष्यों के हाथ जोड़ लें, सारे मनुष्यों के पेट जोड़ लें, सारे मनुष्यों की आँखें जोड़ लें, सारे मनुष्यों के सब अंग जोड़ लें, तो जो रूप बनेगा, उससे बात पूरी न हो सकेगी; क्योंकि हमारी धरती तो छोटी है और भी ऐसी हजारों धरतियाँ हैं और उन सभी हजारोंहजार धरतियों पर हम जैसे हजारोंहजार प्रकार के जीवन हैं। अब तो खगोलशास्त्र को जानने वाले वैज्ञानिक बताते हैं कि कम से कम पचास हजार पृथ्वियों में जीवन की संभावना है।

इतनी बड़ी सृष्टि, इतना बड़ा सृजन, फिर इन सबकी समष्टि। परमात्मा का तो मतलब ही है, समस्त समष्टि का जोड़। जरा हम सब को जोड़ लें और सारी अनंत पृथ्वियों एवं अन्य सभी ग्रहों के सारे जीवन को जोड़ लें। तब कितने हाथ, कितने मुख और कितने पेट। वे सब के सब अर्जुन को दिखाई पड़ रहे हैं। कितनी दुविधा, कितनी असुविधा और कितना असमंजस हुआ होगा अर्जुन को, यह सब देखने और सोचने में। जब सब एक साथ दीख रहा है, तो किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गए होंगे अर्जुन। उनकी समझ में कुछ भी तो नहीं आ रहा होगा।

इसीलिए तो वह बार-बार पूछ रहे हैं कि आखिर यह सब है क्या? और इतना सब जो दिखाई दे रहा है, फिर भी न तो आपका आदि दिखाई दे रहा है और न कोई अंत नजर आता है। यहाँ तक कि आपका कोई मध्य भी नजर नहीं आ रहा है। मैं इस समय सब कुछ देख रहा हूँ, फिर भी मुझे नहीं लगता है कि मैं पूरा देख पा रहा हूँ; क्योंकि प्रारंभ का मुझे पता नहीं चल रहा है। अंत का भी कोई पता नहीं। मध्य भी मुझे समझ नहीं आ रहा है। कैसी विचित्र बात है, आपकी दी हुई दिव्य दृष्टि से मैं देख पा रहा हूँ, फिर भी नहीं देख पा रहा हूँ।

अर्जुन के इस कथन में आदि और अंत की बात तो समझ में आती है, पर मध्य भी नहीं दिखाई दे रहा है, यह सुनकर थोड़ा असमंजस होता है; क्योंकि फिर जो दिखाई दे रहा है, वह क्या है? अर्जुन को दिखाई पड़ रहा है, इतने तक बात तर्कयुक्त है। आदि और अंत दीखने की बात भी समझी जा सकती है, पर मध्य दिखाई न देने की बात थोड़ा दुविधा में डाल देती है। मान लीजिए कोई नदी किनारे खड़ा है। उसे न तो नदी का प्रारंभ दिखाई पड़ता है और न सागर में गिरती हुई नदी का अंत दिखाई पड़ता है, लेकिन नदी का मध्यम तो उसे दिखाई दे रहा है। ऐसा कहा जा सकता है, लेकिन फिर अर्जुन के कथन का कारण? इस कारण को कुछ इस तरह से समझा जा सकता है कि मध्य का मतलब तो हुआ आदि और अंत के बीच में। जब हमें दोनों ही छोर दिखाई नहीं दे रहे, तो जो दिखाई दे रहा है, उसे मध्य कैसे कहें? क्योंकि दोनों छोरों के बीच का नाम ही तो मध्य है।

इसीलिए अर्जुन का कहना है कि उन्हें मध्य दिखाई नहीं दे रहा है। न आदि, न मध्य और न अंत। अर्जुन को दिखाई पड़ रहा है केवल विराट। अर्जुन के इस कथन में एक मर्म और भी है। और मर्म की बात यह है कि परमात्मा तो हर स्थान पर पूर्ण है। साथ में अनादि व अनंत भी। ऐसी स्थिति में उसका आदि, अंत व मध्य नापना मुमकिन नहीं है। इसलिए भगवान को जानने, बताने वालों की भाषा अटपटी-सी हो जाती है। यहाँ तक की यही अटपटापन उनके व्यवहार में भी आ जाता है।

इस संदर्भ में एक घटना है झेन संत बोकजू के बारे में। बोकजू को एक रात जापान के एक बौद्ध मंदिर में ठहरना पड़ा। वहाँ मंदिर में लकड़ी की अनेक मूर्तियाँ थीं बुद्ध की। रात में सरदी बहुत थी, इसलिए बोकजू ने लकड़ी की एक मूर्ति उठाकर जला ली और आँच ताप ली। मंदिर में आग देखकर पुजारी घबरा गया। वह भागता हुआ आया और उनसे पूछा—"यह क्या कर रहे हो?

पागल हो तुम तो, तुम्हें ठहराकर मैंने अपराध कर दिया। तुम तो भगवान बुद्ध को जला रहे हो।''

बोकजू ने कहा—''भगवान बुद्ध! बड़ी भूल हो गई भाई।'' पास पड़ी एक छोटी-सी लकड़ी को उठाकर वह राख को कुरेदने लगा। पुजारी ने पूछा—''अब क्या कर रहे हो?'' तो उसने कहा—''अरे! देख नहीं रहे, मैं तो भगवान की अस्थियाँ खोज रहा हूँ।'' पुजारी ने अपना माथा पीट लिया और कहा—''तुम तो सचमुच ही पागल हो। लकड़ी की मूर्ति जलाकर उसकी अस्थियाँ खोज रहे हो।'' पुजारी ने घबराकर उसे रात में ही निकाल दिया। रात में सरदी बहुत थी, लेकिन पुजारी को कोई दया नहीं आई। बोकजू ने भी पुजारी से बहस करना ठीक नहीं समझा। बस, वहाँ से चुपचाप मुस्कराता हुआ चल दिया।

सुबह जब मंदिर के द्वार खुले, तो उन्होंने देखा कि फकीर बोकजू सड़क के किनारे एक पत्थर पर दो फूल रखकर पूजा कर रहा है। यह देखकर पुजारी को और भी परेशानी हुई। उसने उसके पास पहुँचकर कहा—''अरे भाई तुम किस तरह के आदमी हो ! रात में तो तुमने भगवान की मूर्ति जला दी और अब सड़क के किनारे बैठकर पत्थर की पूजा करने बैठे हो।'' इस पर बोकजू हँसा और बोला—''पूजा भगवान की करनी हो तो कहीं भी हो सकती है। हाँ, यदि अपने अहंकार को पूजना हो तो फिर काफी कठिनाई है। भगवान का न तो कोई आदि है, न मध्य और न अंत। वह तो सब स्थान पर एक समान है। हर स्थान पर उनका आदि है, हर स्थान पर मध्य और हर स्थान पर अंत। साथ ही हर स्थान पर उनकी पूर्णता है, फिर क्या फरक पड़ता है कि कोई मूर्ति हो या कंकड़-पत्थर! या फिर कुछ भी न हो। अपना हृदय ही मंदिर बन जाए। बस, पहचान होनी चाहिए परमात्मा की। पहचान होनी चाहिए—इस सत्य की कि वह विराट सबको स्वयं में समेटे हुए सबमें एक-सा समाया है। यह पहचान हो जाए, यह देखने की ताकत मिल जाए तो फिर परमात्मा से संवाद संभव है।

(क्रमशः)

बादशाह सुल्तान एक बार वन की सैर को निकले। उन्हें शिकार अत्यंत प्रिय था। साँझ के समय वे सूर्यास्त का दृश्य देख रहे थे कि उन्हें लगा कि टीले पर कोई जानवर बैठा है तो उन्होंने तुरंत निशाना साधकर उस पर तीर छोड़ा। तीर लगते ही एक जोर की चीख सुनाई पड़ी। चीख सुन सुल्तान काँप उठे; क्योंकि यह एक मनुष्य की चीख थी। उन्होंने पास जाकर देखा कि एक बालक तीर से घायल हो कर पीड़ा से छटपटा रहा है। कुछ ही समय में उसका मजदूर पिता भी वहाँ आ गया। अपने पुत्र की यह हालत देख वह बेहाल हो गया।

सुल्तान ने बालक का शीघ्र उपचार कराया और उसके बाद दो थाल बालक के पिता के लिए मँगवाए। एक में अशरफियाँ और दूसरे में तलवार रखी थी। सुल्तान मजदूर से बोले—''मैंने जानवर समझकर तीर छोड़ा था, परंतु वह गलती से तुम्हारे पुत्र को लगा, किंतु तब भी तीर चलाने के कारण दोष मेरा है। तुम चाहो तो अशरफियाँ लेकर इस भूल को माफ कर दो, अन्यथा यदि मुझे माफी का हकदार न पाओ तो मेरा सिर तलवार से कलम कर दो।'' सुल्तान की न्यायप्रियता देखकर मजदूर दंग रह गया। उसने कहा—''हजूर! मुझे दोनों में से कुछ नहीं चाहिए, केवल आप यह भूल दोबारा न करें। आप निरीह प्राणियों का वध करना छोड़ दें।'' बादशाह ने उस दिन के बाद से शिकार करना छोड़ दिया।

गुरुर्देवो महेश्वरः

विगत अंक में आपने पढ़ा कि हिमालय अज्ञातवास के क्रम में परमपूज्य गुरुदेव की भेंट अपनी मार्गदर्शक सत्ता से हुई और उनसे प्राप्त आदेश के अनुसार गुरुदेव कैलास मानसरोवर की यात्रा पर निकल पड़े। कैलास का मार्ग लीपूघाटी से होकर के जाता था, किंतु किसी अज्ञात की प्रेरणा से गुरुदेव ज्ञानगंज आश्रम की सीमा में पहुँचे। ज्ञानगंज से निकलकर पूज्य गुरुदेव को मनुष्य के नेत्रों के समान एक विशाल सरोवर दिखाई पड़ा, जिसका नाम राक्षसताल था। आइए पढ़ते हैं, इससे आगे का विवरण.....

शिव का नैसर्गिक विग्रह

शिवलिंग के आकार वाला कैलास पर्वत आस-पास के सभी शिखरों से ऊँचा है। कसौटी के ठोस काले पत्थर का बना यह विग्रह ऊपर से नीचे तक उज्ज्वल बरफ से ढका रहता है, किंतु उससे लगे हुए पर्वत की सोलह पंखड़ियाँ लाल और मटमैले पत्थर की हैं। उस क्षेत्र के और तमाम पत्थर-शिखर उन पंखड़ियों जैसे लाल और कच्चे पत्थरों के हैं। कैलास अकेला ही वहाँ काले ठोस पत्थर का है।

कैलास पर्वत की परिक्रमा करते हुए आचार्यश्री को कई तिब्बती मिले। वे भी कैलास की परिक्रमा कर रहे थे। उनमें कुछ तो दंडवत् करते हुए परिक्रमा कर रहे थे। तिब्बतियों में कैलास के प्रति अपार श्रद्धा है। दंडवत् परिक्रमा करते हुए यात्रियों में कुछ की उम्र साठ वर्ष के आस-पास रही होगी। उन्हीं में से एक ने आचार्यश्री से पूछा—"आप हिंदुस्तानी हैं? हमारे गुरु को आपने क्या दरजा दिया हुआ है?"

तब तिब्बत के लामा लोग भारत आया करते थे। चीन ने तिब्बत की संस्कृति में घुसपैठ शुरू कर दी थी और वह तिब्बत के मठों और विहारों को नष्ट-भ्रष्ट करने में लगा था। उस वृद्ध ने जब आचार्यश्री से यह प्रश्न पूछा तो उसके चेहरे पर उभर आई पीड़ा साफ देखी जा सकती थी। आचार्यश्री उसका चेहरा देखने लगे। वृद्ध ने फिर दोहराया—"बताओ युवक तुम यहाँ अपने आदि गुरु को प्रणाम करने जा रहे हो। हमारे लामा भी तो इन्हीं कैलास के एक रूप हैं, उन्हें भी क्या इसी श्रद्धा से प्रणाम करते हो।"

आचार्यश्री ने कहा—"बाबा! कोई गुरु तिब्बत या भारत का होने से वंदनीय नहीं होता। वह अपने तप-तेज के कारण वंदनीय होता है।"

"पर उन पर जो अत्याचार हो रहे हैं वह।" वृद्ध ने कहा—"उनके बारे में आपका क्या कहना है।"

आचार्यश्री ने कहा—"यह नियति का विधान भी हो सकता है। हम एक ही दिशा में प्रगति कर जाएँ और जीवन के दूसरे पक्षों की उपेक्षा कर दें तो प्रकृति का उल्लंघन करते हैं। तिब्बत ने, वहाँ के धर्मगुरुओं और शासकों ने चेतना के क्षेत्र में तो बहुत विकास किया, लेकिन लौकिक पक्ष को छोड़ दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि व्यवहार जगत में वह कमजोर हो गया। उसकी प्रगति एकांगी रह गई। उस एकांगी प्रगति का दंड ही तिब्बत को भुगतना पड़ा है।"

सुनकर वृद्ध थोड़ा आशान्वित हुआ। आचार्यश्री का उत्तर सुनकर उसे लगा कि एक नया ही पक्ष उद्घाटित हो रहा है। उसने उत्कंठावश फिर पूछा—"तिब्बत क्या अपने आध्यात्मिक और लौकिक वैभव को फिर प्राप्त कर सकेगा।"

आचार्यश्री ने कहा—"कोई भी जाति हमेशा एक ही दशा में नहीं रहती है। जाति ही क्यों, व्यक्ति और अस्तित्व के प्रत्येक घटक पर यह बात लागू होती है। उत्थान और पतन, दोनों ही स्थितियाँ सभी के जीवन में आती हैं। इसलिए तिब्बत के दोबारा उठ खड़े होने में कोई संदेह नहीं है। उसके लिए तिब्बत के शासकों और धर्मक्षेत्र के लोगों को प्रयत्न करने होंगे।"

वृद्ध आचार्यश्री के सामने नतमस्तक खड़ा हो गया। आचार्यश्री की वेशभूषा और व्यवहार को देखकर यह कतई नहीं लगता था कि वे योगी-यति हैं। वे साधारण गृहस्थ लग रहे थे। आयु में उस वृद्ध से कम ही थे, फिर भी उसने प्रणाम किया और पूछा कि अब आप एक बात और बताएँ कि भगवान शंकर का दिव्यधाम कैलास क्या यही है?

कहकर वह वृद्ध व्यक्ति करबद्ध मुद्रा में सामने खड़ा हो गया। आचार्यश्री ने उस पर एक नजर डाली और कहा—"इस उलझन में कोई सार नहीं है बाबा! जिस लोक को भगवान शंकर का दिव्यधाम कहते हैं, वह तो अपार्थिव (अलौकिक) है। यह कैलास उस दिव्यधाम का प्रतिरूप है। साकेत का प्रतिरूप जैसे अयोध्या है और भगवान कृष्ण के गोलोक का प्रतिरूप ब्रजधाम है, उसी तरह यह कैलास भी दिव्य कैलास का ही प्रतिरूप है।" कहते-कहते आचार्यश्री कुछ पल रुके और फिर बोले—"बौद्ध मठों में जिन अवलोकितेश्वर अमिताभ की प्रतिमा को भगवान बुद्ध मानकर आप प्रणाम करते हैं, उनकी प्रतिमा की तरह है यह कैलास। लेकिन यह स्वयं वह दिव्यधाम नहीं है।"

वह वृद्ध आचार्यश्री को प्रणाम कर अपने रास्ते पर चल दिया। आचार्यश्री भी अपने पथ पर आगे बढ़ गए। कैलास शिखर पर देखने से चारों ओर मंदिर जैसी आकृति बनी दिखाई देती है। बत्तीस मील की परिक्रमा पूरी करने में तीन दिन लग जाते हैं। शिखर पर पहुँचना असंभव-सा है। समुद्र तल से उन्नीस हजार फीट ऊँचाई वाले इस पर्वत पर डेढ़ मील की सीधी चढ़ाई है। अभी तक किसी ने वहाँ पहुँचने का दुस्साहस नहीं किया। अगम्य क्षेत्र होने के कारण भी लोगों का यह विश्वास दृढ़ होता गया कि भगवान शिव का स्थूल विग्रह इस शिखर पर विद्यमान है।

परिक्रमा पूरी करते समय आचार्यश्री को ध्यान आया कि बदरीनाथ तीर्थ का मूल स्थान यहीं कहीं आस-पास है। तिब्बत की सीमा में धुलिंग मठ नाम से एक बौद्ध विहार आता है। कहने को वह जगह बौद्ध भिक्षुओं की साधनास्थली है, लेकिन वहाँ योग और तंत्र मार्ग के साधक भी रहते हैं। कैलास की परिक्रमा करते हुए आचार्यश्री ने आदिबदरी जाने का निश्चय किया।

कहते हैं कि इन दिनों जहाँ बदरिकाश्रम है, वह तीर्थ लगभग डेढ़ हजार साल पहले धुलिंग मठ में था। बदरीनाथ धाम में प्रतिष्ठित विग्रह तब इसी जगह थे। कहते हैं कि आदि शंकराचार्य इन विग्रहों को धुलिंग मठ वाले स्थान से ले आए थे। एक मान्यता यह भी है कि शंकराचार्य के पहले ही विग्रह स्थानांतरित हो गए थे। बौद्धकाल में यह परिवर्तन किया गया। उन विग्रहों को बदरीनाथधाम में भी स्थित नहीं रहने दिया गया। उन्हें हटाकर बौद्धों ने अलकनंदा में फेंक दिया। शंकराचार्य ने अपने विजय अभियान के समय अलकनंदा से इन विग्रहों को निकाला। जो भी हो, धुलिंग मठ को लोग आदिबदरी के नाम से जानते हैं और संभव हो तो वहाँ यात्रा के लिए भी जाते हैं।

आचार्यश्री ने आदिबदरी की यात्रा की तो उन स्थानों को देखा, जहाँ घनश्याम रंग के शालग्राम से बने बदरीनाथ या भगवान विष्णु की प्रतिमा थी। उस स्थान पर बौद्ध साधनाओं का प्रभाव ज्यादा दिखाई दिया। आदिबदरी का नैसर्गिक सौंदर्य उन्हें बहुत पसंद आया। भगवान विष्णु, लक्ष्मी और पार्वती आदि की विशाल मूर्तियाँ वहाँ स्थापित थीं। उनके दर्शन करते हुए मन में कई तरह की हिलोरें उठीं। उनमें एक तरंग यह भी थी कि आदि-बदरी से हटकर बदरीनाथ की प्रतिमा वर्तमान तीर्थ में स्थापित हुई।

सिद्धयोगियों ने भी माना है कि विग्रह एक बार यहाँ से और हटेंगे। जोशीमठ के आस-पास कहीं स्थापित किए जाएँगे। फिर वहाँ से भी स्थानांतरित होंगे, लेकिन वह क्षण देखने के लिए पृथ्वी पर जीवन नहीं बचेगा। अर्थात बदरीनाथ के नष्ट होते ही पृथ्वी या पृथ्वी पर बसा जीवन भी समाप्त हो जाएगा। इन हिलोरों में से तरंगें भी उठती थीं कि क्या इस तरह के वर्णन सही हैं? अथवा ऐसे उल्लेख सिर्फ काव्य में ही आए हैं।

अगर काव्य में ही आए हैं तो उनका आशय यह है कि मानवीय स्वभाव में आए पतन से प्रकृति क्षुब्ध होती है। उसमें परिवर्तन आते हैं। वे परिवर्तन असंतुलन आने के रूप में कहें या मनुष्य को मिलने वाले दंड के रूप में प्रकृति-विक्षोभ का ही संकेत करते हैं। आदिबदरी में देवदर्शन करते हुए यह बोध ईश्वरीय विधान के रूप में भी व्यक्त होता रहा। इन्हीं भावधाराओं में बहते हुए अंतस्थल में गूँगे की तरह ध्वनि उभरी, जो आभास दे रही थी कि अगले दिनों ईश्वरीय विधान, प्रकृति विक्षोभ और मानवीय स्वभाव में आने वाली उलट-फेर को ज्यादा प्रत्यक्ष देखा जा सकेगा। देखा जाना है।

परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी – १

गायत्री परिवार का उद्देश्य-पीड़ा और पतन का निवारण

परमपूज्य गुरुदेव के उद्बोधनों की यह विशेषता है कि उनके उद्गार हमारे अंतर्मन को झकझोर कर रख देते हैं। अपने इस विशिष्ट उद्बोधन में पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि गायत्री परिवार के हर सदस्य के जीवन का एकमात्र उद्देश्य दूसरों की पीड़ा और समाज के पतन का निवारण करना ही है। हमारे जीवन का उद्देश्य एक जगह ठहरकर मात्र दिखावटी पूजा करना नहीं हो सकता। पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि सत्संग का सही अर्थ मनुष्य के भीतर क्रियाशीलता एवं जीवट पैदा करना है, एक स्थान पर बैठकर व्यर्थ बातें करना नहीं। शांतिकुंज आश्रम का उद्देश्य बताते हुए युगऋषि कहते हैं कि क्षेत्र के हर कार्यकर्त्ता को यहाँ प्रेरणा लेने आना चाहिए और यहाँ से प्रकाश ग्रहण कर उसे वितरित करने लौटना चाहिए। सदा से परिव्राजकों एवं धर्मनिष्ठों की यही परंपरा रही है। आइए हृदयंगम करते हैं उनकी अमृतवाणी को.....

हमारा कार्यक्षेत्र—पीड़ा और पतन का निवारण

गायत्री मंत्र हमारे साथ-साथ—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।।

देवियो, भाइयो! आज हमारा प्रारंभिक शिक्षण समाप्त हुआ। अब हम आपको उसी तरह से कार्यक्षेत्र में भेजना चाहेंगे, जैसे कि भगवान बुद्ध ने अपने सारे शिष्यों को योगाभ्यास और तप करने के लिए भेज दिया था। कुछ समय तक अपने समीप रखने के बाद भगवान बुद्ध ने यह आवश्यक समझा था कि जो उनको सिखाया गया है और जो उन्होंने सीखा है, उसको परिपक्व और परिपुष्ट बनाने के लिए, उनके क्रियाकलापों को परखने के लिए कार्यक्षेत्र में भेज दिया जाए। बुद्ध के शिष्य थोड़े दिन तप करने के बाद निकल गए, चले गए। कहाँ चले गए? हिंदुस्तान के कोने-कोने में चले गए, जहाँ पर अज्ञान का अंधकार था। मित्रो! सूरज कहाँ चला गया? वहाँ चला गया, जहाँ अंधकार ने उसको बुलाया था। जहाँ अँधेरा छिपा हुआ था। वहाँ से वह हटता हुआ चला गया और सूरज आगे बढ़ता हुआ चला गया। सूरज के पास अंधकार नहीं आया था। सूरज ही गया था, अंधकार को दूर करने के लिए।

मित्रो! बादलों के पास जमीन नहीं आई, खेत नहीं आए, पेड़ नहीं आए। कोई नहीं आया बादलों के पास, बादल ही चले गए। कहाँ चले गए? खेतों के पास, खलिहानों के पास, पेड़ों के पास। जहाँ लोग बीमार पड़े हुए थे, कॉलेरा फैला हुआ पड़ा था, तपेदिक फैला हुआ पड़ा था, ऐसे मरीज डॉक्टर के पास नहीं आ सके, वहाँ डॉक्टर चले गए, कहाँ चले गए? वहाँ चले गए, जिन गाँवों में कॉलेरा फैला हुआ था, हैजा फैला हुआ था, तपेदिक फैला हुआ था। भूकंप से पीड़ित, अकाल से पीड़ित, दुर्भिक्ष से पीड़ित, दुःख से पीड़ित लोग मालदारों के दरवाजे पर खड़े हुए हैं; क्योंकि हम भूकंप से पीड़ित हैं; क्योंकि हम बाढ़ से पीढ़ित हैं; क्योंकि हम अभावग्रस्त हो गए हैं और हमारे घर वाले पानी में डूबे हुए पड़े हैं। इसलिए आप चलिए और हमारी सहायता कीजिए। वे लोग नहीं आए। फिर कौन आए सहायता देने के लिए? वे आदमी गए, जिनके पास दिल था, जिनके पास भावनाएँ थीं, जिनके पास श्रम था और जिनके पास सहानुभूति थी।

मित्रो! वे लोग वहाँ चले गए, जहाँ पतन और पीड़ा ने उन्हें बुलाया था। जहाँ भूकंप से पीड़ित, बाढ़ में डूबे हुए आदमी थे और अभाव में और बाढ़ में भरे हुए आदमी थे। वे वहाँ चले गए। कौन चले गए? वे आदमी, जिनको हम स्वयंसेवक कह सकते हैं, भावनाशील कह सकते हैं और दिलवाले कह सकते हैं। तो क्या उन्हें जाना चाहिए? हाँ बेटे! उन्हीं को जाना चाहिए, अन्यथा पीड़ा और पतन का निवारण कैसे होगा? छप्पर जल रहा है, तो जलता हुआ छप्पर किस तरह से आपके पास आएगा कि आप हमारे ऊपर पानी डाल दीजिए। आपको ही भागना पड़ेगा और पानी डालने के लिए वहाँ जाना पड़ेगा।

मित्रो! भगवान बुद्ध ने यही मुनासिब समझा। उन्होंने यह नहीं किया कि अपने शिष्यों को एक स्थान पर बैठाकर और उनको योगाभ्यास करा करके और संत बना करके और एक आश्रम बना करके, शांत कुटीर बना करके, वहीं उनको निवास करने के लिए कहें। उन्हें ध्यान करने के लिए, जप करने के लिए और पूजा करने के लिए कहें और गंगा स्नान करने के लिए कहें। उन्होंने यह मुनासिब नहीं समझा। उन्होंने कहा कि अब तुम्हारा योगाभ्यास कर्मक्षेत्र में होगा, स्थान विशेष में नहीं होगा। इसलिए चलो, कर्मक्षेत्र में उतरो। प्रत्येक शिष्य से उन्होंने यही कहा कि तुम्हें तीन दिन से अधिक किसी एक स्थान पर नहीं रहना चाहिए। क्यों? क्योंकि स्थान विशेष से मोह हो जाता है और व्यक्ति विशेष से मोह हो जाता है। व्यक्ति विशेष से, जिस आदमी के अंदर लगाव हो गया है, मोह हो गया है, वह आदमी उसका हिमायती, उसका पक्षधर हो जाता है। गलत काम के लिए भी उसका समर्थन करता है। उसी आदमी को शिष्य बनाने के लिए न जाने क्या-से-क्या करता चला जाता है।

चरैवेति-चरैवेति

पुराने जमाने में लोग तीन-चार दिन के लिए थोड़े-थोड़े समय के लिए घर से निकल जाते थे; क्योंकि हमारा घर में और व्यक्ति विशेष में इतना ज्यादा मोह हो जाता है, इतना ज्यादा पक्षपात हो जाता है कि हम उनकी उचित और अनुचित, दोनों ही तरह की आवश्यकताओं को, माँगों को पूरा करने के लिए अपने आप को खपाते रहते हैं। इसमें हम यह अनुभव करते हैं कि हम जो कर रहे हैं, सही कर रहे हैं। हम जो कर रहे हैं, मुनासिब कर रहे हैं। इसमें गलत और सही का फरक हमें मालूम नहीं हो पाता। मालूम होने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि उन स्थानों में, जिनमें हमारा मोह अत्यधिक बढ़ा हुआ है, थोड़े समय के लिए, वहाँ से बाहर निकल जाना चाहिए। प्राचीनकाल में गृहस्थ जीवन के लिए भी यह आवश्यक समझा जाता था। तीर्थयात्राओं के लिए, परिक्रमाओं के लिए समय-समय पर सामान्य गृहस्थ भी बाहर निकल जाते थे और वहाँ चले जाते थे, जहाँ शांति की वर्षा होती थी, अमृत की वर्षा होती थी। वहाँ ज्ञान का प्रकाश हमें मिलता था।

मित्रो! तब उच्च उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए चलते रहना ही मनुष्य की नियति थी। "चरैवेति-चरैवेति"—चलते रहो-चलते रहो, यही शिक्षण संतों ने हमेशा अपने परिव्राजकों को दिया है, भावनाशील लोगों को दिया है। शिक्षकों के लिए दिया गया है और योगाभ्यास करने वाले, तप करने वाले लोगों को हमेशा यही उपदेश दिया गया है। भगवान बुद्ध ने भी अपने शिष्यों को यही उपदेश दिया और कहा कि जहाँ कहीं भी पीड़ा और पतन दिखाई देता हो, वहाँ सबसे पहले चले जाना। जहाँ कहीं भी पीड़ा और पतन दिखाई पड़ा, बुद्ध के शिष्य वहाँ चले गए, उन-उन स्थानों को चले गए। मध्य एशिया के उन स्थानों में चले गए, जहाँ रेगिस्तानी प्रदेश था। जहाँ खाना भी नसीब नहीं होता था। उन स्थानों पर उन सबको भेज दिया। वहाँ भेज दिया, जहाँ जंगल पड़े हुए थे। कौन

घोंसले में बैठे नन्हें से परिंदे ने पर फड़फड़ाए और सहमकर जहाँ था, वहीं चिपककर बैठ गया। बच्चे को भयभीत देख माँ ने उसे घोंसले से धकेलते हुए कहा—"जब तक तू डरना नहीं छोड़ेगा, तुझे उड़ना कैसे आएगा!" परिंदे ने हिम्मत जुटाई और दूसरे ही पल आकाश में उड़ गया। साहस के बिना कोई उपलब्धि प्राप्त नहीं होती।

से वाले क्षेत्र में ? जावा से लेकर सुमात्रा तक, इंडोनेशिया से लेकर मलाया तक, सारे-के-सारे देश—जिनमें पूर्वी देश भी सम्मिलित थे। जहाँ जंगली लोग, अशिक्षित लोग रहते थे।

योग्य व्यक्ति ठहरें नहीं, प्रसार करें

मित्रो! जंगली लोगों के लिए शिक्षा की आवश्यकता थी, त्याग की आवश्यकता थी और न जाने किस-किस चीज की आवश्यकता थी। बहुत सारी चीजों की आवश्यकता थी। उन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सुयोग्य व्यक्ति वहाँ चले गए। हिंदुस्तान में उन दिनों शिक्षा की बहुत सुविधाएँ थीं, बहुत श्रम था, बहुत सारे ऋषि थे। गंगा, यमुना में बहुत निर्मल जल था। यहाँ साधनों की कमी नहीं थी। जहाँ साधन हैं, वहीं पर संत को रोककर रखा जाए, यह भी कोई तुक है ? जहाँ पर साधन हैं, सुविधा है, वहाँ किनको रहना चाहिए ? बीमारों को रहना चाहिए, बुजुर्गों को रहना चाहिए। वहाँ थके हुए लोगों को रहना चाहिए। शांतिकुंज में हमें उन्हीं लोगों को रखना चाहिए, काली कमली वाले के यहाँ उन्हीं लोगों को रखना चाहिए, जो थक गए हों, जो टूट गए हों, मरे-मराए से हों, जिनके शरीरों में अब दम नहीं रहा और उनके मन में कोई उत्साह नहीं रहा। उत्साह जिनका खतम हो गया, आँखों का प्रकाश जिनका खतम हो गया, जीवट जिनका खतम हो गया। अब हम उनको कहाँ रखें ? अब हम उनको काली कमली वाले बाबा की झोंपड़ी में रखेंगे। बस, वह वहीं बैठा रहा करेगा। टट्टी-पेशाब कर आया करेगा। कुल्ला कर लिया करेगा, मुँह धो लिया करेगा। गंगा जी नहा लिया करेगा और शांतिपूर्वक रहा करेगा।

मित्रो! हम उनको वहीं रखेंगे, क्योंकि वे और आगे चल नहीं सकते। अब उनकी जिंदगी खतम हो गई। अब उनका जीवन खतम हो गया। अब उनका जोश खतम हो गया। अब उनकी भावनाएँ खतम हो गईं। अब जिनकी भावनाएँ खतम हो गई हैं, जो थक गए हैं, जो टूट गए हैं, जो मर गए हैं, उनको अब हम कहाँ से भेज सकते हैं ? उनको अब हम श्मशान भूमि की तैयारी के लिए उचित स्थान पर रखेंगे। डेड बॉडी को पोस्टमार्टम करने के बाद बड़े अस्पतालों में, मुरदाघरों में रख देते हैं, ताकि उनके खानदान वाले आएँ और लाश को उठाकर ले जा सकें। फिर उसको मरघट में ले जाकर या उसको कब्रिस्तान में ले जाकर दफन कर दें। ऐसे लोगों को हम कहाँ रखेंगे, जिनका जीवट खतम हो गया है, जो भुस्स हो गए हैं। इन्हें तो बस, काली कमली वाले बाबा जी के आश्रम में रखेंगे, स्वर्गाश्रम में रखेंगे और उनको हम परमार्थ आश्रम में रखेंगे। क्यों ? क्योंकि वे कुछ काम नहीं कर सकते, चल नहीं सकते। उनके भीतर चलने वाली वस्तु नहीं है, माद्दा नहीं है और उनके अंदर क्रियाशीलता जैसी कोई वस्तु नहीं है और जीवट जैसी वस्तु नहीं है। आप ही बताइए! उनको हम कहाँ रख सकते हैं ?

इसलिए मित्रो! उन लोगों के लिए कोई स्थान विशेष में निवास करने के लिए कोई गुंजाइश नहीं है, लेकिन जिनके अंदर जीवट है, जिनके अंदर जीवन है, जिनके अंदर प्रकाश है, जिनके अंदर प्रेरणा विद्यमान है, उनको हम कार्यक्षेत्र में भेजेंगे। अब उनको कार्यक्षेत्र में भेजे बिना काम बनेगा नहीं। भगवान बुद्ध ने यही किया था। प्रत्येक जीवंत व्यक्ति को, जिसके अंदर आध्यात्मिकता का थोड़ा-बहुत प्रकाश मौजूद था, उन्होंने उनको अपने विहारों में रखा ही नहीं। उन्होंने कहा कि हम आपके विहार में रहेंगे और आपका सत्संग करेंगे। भगवान बुद्ध ने कहा कि बहुत लंबे समय तक सत्संग करना आवश्यक नहीं है। बहुत लंबे समय तक दवाइयाँ खाना आवश्यक नहीं है। व्यायाम करना आवश्यक है, पर सारे समय रोटी खाना आवश्यक नहीं है। उन्होंने कहा कि गुरुजी! हम तो आपके पास रहा करेंगे और रोटी खाया करेंगे। माता जी आप बनाती जाएँ और हम खाते जाएँ। बेटे! कितने दिन खाएगा ? माता जी आपका चौका सवेरे छह बजे से चलता है, उस वक्त से खाया करूँगा। कब तक खाएगा ? तब तक खाऊँगा, जब तक रात के दस बजे तक बंद नहीं हो जाता।

अच्छा बेटे! यह बता कि कुछ काम भी करेगा या नहीं करेगा ? माता जी! काम पर तो नहीं जाऊँगा। तो फिर क्या करेगा ? बस, यहीं पर आपका सत्संग सुनूँगा और आपकी रोटी खाया करूँगा। रोटी से पेट भर जाएगा, तो भी खाऊँगा और खाता रहूँगा। बेटे! तब तो तेरा पेट फट जाएगा और तू बीमार हो जाएगा। नहीं साहब! सत्संग किया करूँगा और बाबा जी के यहाँ रहा करूँगा और रामायण पढ़ा करूँगा और भागवत पढ़ा करूँगा। बेटे! तूने भागवत पढ़ ली और सुन ली, दवा भी खा ली और इंजेक्शन भी ले लिया। अब तू काम करने के लिए चल। नहीं साहब! हम तो काम नहीं करेंगे। जिंदगी भर स्कूल

में पढ़ा करेंगे। बेटे! पढ़ने के बाद नौकरी करेगा या नहीं? महाराज जी! नौकरी तो नहीं करूँगा, खेती तो नहीं करूँगा। मैं तो स्कूल में पाँचवें दरजे में भरती हो गया हूँ और जब तक मेरी नौकरी नहीं लग जाएगी, मैं रोजाना रामायण और महाभारत पढ़ा करूँगा। क्यों पढ़ेगा? पढ़ने की वजह क्या है?

जीवट पैदा करना है—सत्संग का उद्देश्य

मित्रो! सत्संग की कोई वजह भी तो होनी चाहिए। आप किसके लिए सत्संग करेंगे। नहीं साहब! सत्संग करूँगा। बेटे! तू बता तो सही कि सत्संग क्यों करेगा? नहीं साहब! मैं तो सत्संग करूँगा? बेटे! तू पागल आदमी नहीं है, जिसे यह पता ही नहीं है कि सत्संग क्यों किया जाता है। मित्रो! सत्संग करने का उद्देश्य मनुष्यों के अंदर जीवट पैदा करना होता है। सत्संग का उद्देश्य मनुष्यों के अंदर क्रियाशीलता उत्पन्न करना होता है। क्रियाशीलता अगर हमारे अंदर उत्पन्न हो गई है, भावना हमारे अंदर उत्पन्न हो गई है, तो भावना को कार्यक्षेत्र में चलना चाहिए और कार्यक्षेत्र में उसका समावेश होना चाहिए। अगर हमने ऐसा करना शुरू नहीं किया और ऐसा करना हमारे लिए संभव नहीं हुआ, तो बहुत भारी मुश्किल हो जाएगी और बहुत दिक्कत खड़ी हो जाएगी, बड़ी कठिनाई पैदा हो जाएगी।

मित्रो! आपको जो सत्संग दिया गया, जो शिक्षण दिया गया है, उस सत्संग और प्रशिक्षण का उद्देश्य एक होना चाहिए और वह उद्देश्य यह होना चाहिए कि हमारे दिए हुए विचार और हमारे दिए हुए क्रियाकलाप किसी कार्यक्षेत्र में परिणत हो सकें। भगवान बुद्ध ने यही किया। अपने पास लोगों को थोड़े समय तक रखने के पश्चात सबको कार्यक्षेत्र के लिए भेज दिया। आप लोगों को जो क्रियाकलाप बताए गए हैं और जो सत्संग सुनाए गए हैं, उसमें जो आपको सीखना है, वह इसलिए सीखना है कि संसार में जहाँ कहीं भी आपको पतन मालूम पड़े, जहाँ कहीं भी आपको असुविधा मालूम पड़े, जहाँ कहीं भी आपको पीड़ा मालूम पड़े, उस पीड़ा के स्थान पर और पतन के स्थान पर आपको चले जाना चाहिए। भगवान बुद्ध ने यही किया था।

प्राचीनकाल में ऋषि अपने आश्रम में लोगों को बुलाते थे और सत्संग की प्रेरणा देते थे, शिक्षा की प्रेरणा देते थे। सत्संग और शिक्षा की प्रेरणा के पश्चात यही किया करते थे कि उनके शिष्यों की शिक्षा को परिष्कृत और परिपक्व किया जाए। व्यायामशाला में सिखाने के पश्चात लोगों को अखाड़े में भेज दिया जाता है। अखाड़े में से निकलने के पश्चात दंगल में भेज दिया जाता है। दंगल में कोई आदमी जाए ही नहीं, तो उसको मैं क्या कहूँगा? मिलिट्री का प्रशिक्षण किस तरह का होता है, आप जानते हैं क्या? मिलिट्री का प्रशिक्षण किसी आदमी को दिया जाए और वह यह कहे कि हम तो यहीं पर, इसी स्थान पर रहेंगे और दिन भर मिलिट्री की ट्रेनिंग किया करेंगे; क्योंकि हमको छावनी में भरती किया गया है, इसलिए हम छावनी में ही निवास करेंगे। हम लड़ाई पर नहीं जाएँगे। छावनी में रहना आपको कैसे मंजूर होगा? आप छावनी में क्यों रहेंगे? छावनी में हमने आपको इसलिए रखा था और बंदूक चलाना आपको इसलिए सिखाया था कि लड़ाई के मोर्चे पर जब आवश्यकता होगी, तो आप लड़ाई के मोर्चे पर चले जाएँगे और लड़ना शुरू कर देंगे। लड़ाई के मोर्चे पर जाने के लिए हमको छावनी छोड़नी पड़ती है और बंदूक चलाना सीखना पड़ता है।

अध्यात्म विज्ञान के साधकों को अपने दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन करना पड़ता है। उन्हें सोचना होता है कि मानव जीवन की बहुमूल्य धरोहर का इस प्रकार उपयोग करना है, जिससे शरीर का निर्वाह लोकव्यवहार भी चलता रहे, पर साथ ही आत्मिक अपूर्णता को पूर्ण करने का चरम लक्ष्य भी प्राप्त हो सके। ईश्वर के दरबार में पहुँचकर सीना तानकर यह कहा जा सके कि जो अमानत जिस प्रयोजन के लिए सौंपी गई थी, उसे उसी हेतु सही रूप में प्रयुक्त किया गया।

—परमपूज्य गुरुदेव

प्रेरणा लें और प्रकाश वितरित करें

मित्रो! स्थान विशेष पर जिनको हम संतों के आश्रम कहते हैं, जिनको हम गुरुकुल कहते हैं, जिनको हम सत्संग भवन कहते हैं, जिनको हम साधना भवन कहते हैं। उन स्थानों पर जाने और रहने की आवश्यकता केवल इसलिए है कि हम वहाँ से प्रेरणा लें और प्रकाश वितरित करें। वहाँ से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करने के पश्चात सारे समाज में चले जाएँ और वहाँ ज्ञान का प्रकाश फैलाएँ। मित्रो! हमें आपके लिए उसी प्राचीनकाल की परंपरा की पुनः स्थापना करनी पड़ रही है, उसे पुनः जाग्रत करना पड़ रहा है। हम ऐसे स्थान और आश्रम बनाने में यकीन नहीं करते, जहाँ आदमी को घर छोड़ करके बुला लिया जाए और वानप्रस्थाश्रम बना दिया जाए, सत्संग आश्रम बना दिया जाए और लोगों से यह कहा जाए कि अब आप जिंदगी भर यहीं रहिए। क्यों साहब! जिंदगी भर रह करके आप यहाँ क्या करेंगे? ज्ञान सीखेंगे। तो ज्ञान का क्या करेंगे? ज्ञान को कर्मयोग में परिणत कीजिए। ज्ञानयोग की सार्थकता इसी में है। ज्ञान अगर कर्मयोग में परिणत नहीं किया जाता है तो ज्ञान निरर्थक है। उस ज्ञान को कर्म में परिणत नहीं किया जाता तो ज्ञान निरर्थक है। उस ज्ञान का कोई मतलब नहीं रह जाता।

साथियो! हमने आपको जो थोड़े समय तक शिक्षण दिया है, उस शिक्षण को आपको कर्त्तव्य रूप में परिणत करना चाहिए और क्रियारूप में परिणत करना चाहिए। अब आप यहाँ से विदा हो रहे हैं। जब भी हमको आवश्यकता होगी हम आपको दोबारा बुला लेंगे। इस समय हम जो आपको विदा कर रहे हैं, उसका एक ही उद्देश्य है—पीड़ा और पतन का निवारण। इसने समूची मानव जाति को तबाह कर डाला है। इसने सारे-के-सारे संसार को मूर्ख बना दिया है, अंधकार में डुबो दिया है। इसे हमें मिटाना है। इस अंधकार और दरद को, दुःख और पाप को मिटाना है। इसने भगवान के वरिष्ठ राजकुमार मानव जाति को पशुओं से भी गया-बीता, पापियों से भी गया-बीता बना दिया है। अब करना यह पड़ेगा कि हम आपको वहाँ भेजेंगे, जहाँ भूकंप आया हुआ है। जहाँ बाढ़ आई हुई है। जहाँ पतन छाया हुआ है। मैंने आपको हजार बार कहा है और लाख बार फिर कहूँगा कि मनुष्य के सामने जो गुत्थियाँ दिखाई पड़ती हैं, जो कुछ भी अशांति दिखाई पड़ती है, जो कुछ भी अभाव दिखाई पड़ता है और जो भी कुछ दुःख दिखाई पड़ता है, उसका और कोई कारण नहीं है। उसका एक ही कारण है कि मनुष्य अपनी विचारधारा को विकृत बना चुका है। विकृत विचारधाराएँ ही पतन का मुख्य कारण हैं।

मित्रो! पतन जहाँ कहीं भी रहेगा, पीड़ाएँ हजार जगह से आ जाएँगी। इन्हें आप रोक नहीं सकते। इसलिए हमको क्या करना पड़ेगा? हमको वही करना पड़ेगा, जो ऋषियों ने, संतों ने, महात्माओं ने, ब्राह्मणों ने हमेशा से किया है। उन्हें जहाँ कहीं भी पीड़ा और पतन दिखाई पड़ा है, वहाँ वे सीधे भागकर गए हैं और उस पतन का निवारण करने के लिए, निराकरण करने के लिए अपने आप का बलिदान कर दिया। अपने आप को शहीद कर दिया। पतन अज्ञान के रूप में, लोभ के रूप में, मोह के रूप में आता है। मनुष्य कैसा लोभी होता जा रहा है, आप देख ही रहे हैं। आदमी कैसे मोह के वश में होता जा रहा है, यह भी सर्वत्र ही देखा जा सकता है। लोभ और मोह जहाँ कहीं भी पाया जाएगा, वहाँ हजार तरह के पाप, हजार तरह की पीड़ा और हजार तरह के दुःख होते चले जाएँगे।

हमारा काम—इनसान को इनसानियत सिखाना

मित्रो! मनुष्यों को मनुष्यता का शिक्षण करना हमारा और आपका सबसे बड़ा काम है। हमारा काम वह नहीं है, जो लोग हमसे उम्मीद करते हैं। लोग हमसे यह उम्मीद करते हैं कि हम दुनिया की आर्थिक समस्या को कैसे सुधार पाएँगे? लोगों को मालदार कैसे बना पाएँगे और लोगों की आर्थिक व्यवस्था कैसे बना पाएँगे? मित्रो! हम आर्थिक व्यवस्था की बात तो नहीं करते, परंतु उसका मजबूत आधार हम बनाकर देंगे। जहाँ परिश्रमी और पुरुषार्थी लोग रहते हैं, वहाँ मालदारों की कमी नहीं रहती है। जापान छोटा-सा द्वीपों वाला देश है, जहाँ बराबर भूकंप आते रहते हैं। जहाँ बराबर तूफान आते रहते हैं और जहाँ बराबर तबाही आती रहती है। जरा-सा देश है जापान, लेकिन वहाँ के नागरिक कैसे श्रमपरायण एवं पुरुषार्थी होते हैं। छोटी-सी जमीन में इतनी पैदावार कर ली कि किसी जमाने में विश्व में पहले नंबर का देश था। आज तो नहीं रहा। एटम बम गिरने के बाद में कुछ परिवर्तन तो हुए, लेकिन अभी भी उसके मुकाबले का देश दुनिया में तलाश करें, तो उसके मुकाबले का कोई दूसरा देश दिखाई नहीं पड़ता। एकदम कम साधन, इतनी

कम जमीन, इतनी कम व्यवस्था में रहकर भी उसने सारी दुनिया को चैलेंज किया। कभी चीन पर हावी हुआ था, तो कभी अमेरिका को चैलेंज किया था। आर्थिक दृष्टि से अपने समान देशों से वह कहाँ-से-कहाँ चला गया।

मित्रो! यह क्या है? यह संपदा कहाँ से आती है? यह संपदा मनुष्य के शरीर में भरी पड़ी है और भीतर दबी पड़ी है। यदि हम आदमी को पुरुषार्थवान बना दें, तो? आपने देखा नहीं, थोड़े दिन पहले जो लोग पाकिस्तान से आए थे, अपनी सारी-की-सारी चीजों को गँवाकर आए थे। वे यहाँ हिंदुस्तान में आ गए और भिक्षा माँगने की अपेक्षा लेमनजूस बेचना शुरू कर दिया। टॉफी बेचना शुरू कर दिया, पापड़ बेचना शुरू कर दिया और खिलौना बेचना शुरू कर दिया। आप देखिए न, पंजाब से आया आदमी कोई भिखारी मालूम पड़ता है क्या? सब मालदार हो गए और वे पैसे के मालिक बने बैठे हैं। सारे-के-सारे आदमी दुकान चला रहे हैं। आप सबको उनने चैलेंज कर दिया और जाने वे कहाँ-से-कहाँ चले गए। आप तो यह चाहते हैं कि गुरुजी, हमें आप लक्ष्मी का मंत्र बता दीजिए, हमारी नौकरी लगवा दीजिए। हम तो मैट्रिक पास हैं और मारे-मारे फिरते हैं। हमें कहीं काम पर लगा दीजिए, नौकरी लगवा दीजिए। पागल कहीं का, भूखा मरेगा। जो आदमी पुरुषार्थी नहीं है, जिसके अंदर परिश्रम का माद्दा नहीं है और जो मेहनतकश नहीं है और जिस आदमी को मेहनत करने में मजा नहीं आता, वह आदमी मित्रो! ऐसे ही पैदा हुआ है और उसे ऐसे ही मरना चाहिए।

मित्रो! लोगों की आर्थिक समस्या का समाधान इस तरह से हम कर सकते हैं। सबसे पहले आपको अपने खरच में मितव्ययिता बरतनी चाहिए, ताकि आपको कर्जदार होने का मौका न मिले, ताकि आपको परेशान होने का मौका न मिले। आर्थिक समस्याओं के समाधान करने के लिए इन सूत्रों को स्वर्णिम अक्षरों से और हीरे की कलम से अपने मन-मस्तिष्क में लिखने वाले, सचमुच में जहाँ कहीं भी ये सूत्र लोगों के हृदय में हृदयंगम कर लिए जाएँगे, वहाँ लोगों की हालत ठीक होती हुई चली जाएगी। जहाँ मनुष्यों को शराब पीने की आदत होगी, कोकाकोला पीने की आदत होगी, सिनेमा देखने की आदत होगी, आरामपरस्ती की आदत बनी रहेगी, हरामखोरी की आदत बनी रहेगी, आदमी काम से जी चुराते रहेंगे, वहाँ संपन्नता और खुशहाली कैसे आ सकती है? (क्रमशः)

वन में खड़े एक वृक्ष के साथ लिपटी एक लता भी धीरे-धीरे वृक्ष के बराबर हो गई। वृक्ष का आश्रय लेकर उसने भी फलना-फूलना आरंभ कर दिया। बेल को फलते-फूलते देखकर वृक्ष को अहंकार हो गया कि मैं न होता तो लता का अस्तित्व ही न होता। वह लता को धमकाते हुए बोला—"ओ बेल! चुपचाप मेरा कहना माना कर, मैं जो कह रहा हूँ, वह किया कर, नहीं तो धक्के मारकर भगा दूँगा।" पेड़ का प्रलाप जारी था कि दो पथिक वहाँ से निकले। एक बोला—"अरे भाई! जरा देखो तो! यह वृक्ष कैसा सुंदर है, इस पर कैसी सुंदर लता पुष्पित हो रही है। आओ, इसके नीचे थोड़ी देर विश्राम करें।" अपना महत्त्व लता के साथ है, यह जानकर वृक्ष का अभिमान भी नष्ट हो गया। साथ-साथ रहने से ही सबकी प्रगति होती है।

विश्वविद्यालय में उत्साह व उमंग का वातावरण

विश्वविद्यालय परिसर में अक्टूबर व नवंबर के महीने में विद्यार्थियों की प्रायोगिक व शैक्षणिक परीक्षाएँ संपन्न हुईं। इस अवधि में परिसर में शांति का माहौल रहा। विद्यार्थीगण अपनी परीक्षा की तैयारियों में व्यस्त रहे और उन्होंने बहुत गंभीरता व उत्साह के साथ अपनी परीक्षाएँ दीं।

परिसर में अक्टूबर महीने से ही हलकी ठंढ ने प्रवेश कर लिया था और नवंबर में परीक्षा के समय तक अच्छी ठंढ पड़ने लगी थी। दीपावली से एक दिन पहले रूपचतुर्दशी के दिन विश्वविद्यालय परिवार ने मृत्युंजय सभागार में विश्वविद्यालय के कुलाधिपति डॉ० प्रणव पण्ड्या जी का ६४ वाँ जन्मदिन चेतना दिवस के रूप में मनाया। इस अवसर पर कुलाधिपति जी के अब तक के जीवन की एक झलक झाँकी वीडियो फिल्म के माध्यम से प्रस्तुत की गई, जिसे देखकर सभी भावविभोर व पुलकित हुए। इस मौके पर कुलाधिपति जी ने भी अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रसंगों के बारे में बताया और जीवन में सफलता प्राप्त करने, सभ्य, सुसंस्कृत व समाज के विकास के लिए विद्यार्थियों को एक बुराई छोड़ने व एक अच्छाई ग्रहण करने की सलाह दी।

दीपावली के पर्व पर कई विद्यार्थियों ने यहीं रहकर विश्वविद्यालय व शांतिकुंज में उत्सव मनाया और कुछ विद्यार्थी इस मौके पर अपने घर भी गए। दीपावली का त्योहार संध्या के समय शांतिकुंज में दीपयज्ञ के माध्यम से मनाया गया, जिसमें अखिल विश्व गायत्री परिवार के प्रमुख डॉ० प्रणव पण्ड्या ने कहा—"दीपावली का पर्व सुख-समृद्धि का संदेश देता है, लेकिन यह सौभाग्य उन्हें ही मिलता है, जो धन का सही उपयोग करने की कला जानते हैं। सुख अधिक कमाने में नहीं, बल्कि धन का सदुपयोग करने में है। सुख बाँटने में निहित है, बटोरने में नहीं। इस ज्योतिपर्व पर जलते हुए दीपक हमें यही प्रेरणा देते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि उस मनुष्य का जीवन धन्य है, जिसका तन, मन, धन केवल अपने लिए ही नहीं, वरन सारे समाज को प्रेरणा-प्रकाश देने में लग जाए।" दीपावली के इस पर्वोत्सव में देव संस्कृति विश्वविद्यालय के ३२ विद्यार्थियों ने समाज के विकास एवं पर्यावरण संरक्षण हेतु आजीवन समय देने का संकल्प लिया और अपने संकल्पपत्र को भरकर कुलाधिपतिजी को भेंट किया।

नवंबर का महीना विद्यार्थियों के लिए परीक्षा की अवधि का रहा, लेकिन मौसम में सरदी बढ़ने से अधिकांश विद्यार्थीगण धूप का आनंद लेते हुए परिसर में अक्सर पढ़ते नजर आते थे। नए विद्यार्थियों के लिए हरिद्वार की यह पहली ठंढ थी, जिसका उन्होंने आनंद लिया। शाम के समय विद्यार्थीगण अपनी थकान उतारने के लिए परिसर में भ्रमण करते या पुस्तकालय में बैठकर पुनः नए प्रश्नपत्र की तैयारी में व्यस्त हो जाते।

इस बार सत्रांत परीक्षा नवंबर-दिसंबर महीने में ही संपन्न हुई, अन्यथा हर बार ये परीक्षा दिसंबर महीने में संपन्न हो पाती थी, जिससे विद्यार्थियों को अल्प समय का शीतकालीन अवकाश मिलता था। दिसंबर में पहले सप्ताह में परीक्षाएँ समाप्त होने से विद्यार्थियों को पर्याप्त समय का अवकाश मिला और वे सत्रांत शीतकालीन अवकाश में अपने घरों की ओर रवाना हुए। जो विद्यार्थी प्रमाणपत्र पाठ्यक्रम के थे, उन्हें फिर से प्रशिक्षण हेतु जनवरी में आना पड़ा और उनकी इंटर्नशिप प्रशिक्षण के बाद निर्धारित स्थलों पर संपन्न हुई।

यूरोप के विभिन्न विश्वविद्यालयों के साथ हुए समझौते

विश्वविद्यालय के स्टाफ सदस्यों व शिक्षकों के लिए भी यह अवधिकाल परीक्षातुल्य रहा। इस अवधि में हर विभाग को जुलाई से दिसंबर सत्र की प्रगति रिपोर्ट को प्रस्तुत करना था और स्टाफ के सदस्यों ने भी पूरी मेहनत व तत्परता के साथ इस कार्य में अपना सहयोग दिया।

परीक्षाकाल की इस नवंबर महीने की अवधि में विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति विदेश गए, जहाँ उन्होंने इंग्लैंड, जर्मनी, लात्विया, ग्रीस व पोलैंड के प्रमुख अंतरराष्ट्रीय शैक्षणिक संस्थानों के साथ एमओयू (मेमोरेंडम ऑफ अंडरस्टेंडिंग) पर हस्ताक्षर किए। यह

विश्वविद्यालय के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि व गौरवपूर्ण बात है।

०६ नवंबर के दिन प्रतिकुलपति के साथ एबीएमए एजुकेशन लिमिटेड, ग्रेट ब्रिटेन का पहला एमओयू साइन हुआ। यह संस्थान शिक्षा के क्षेत्र में इंग्लैंड के विश्वप्रसिद्ध कैम्ब्रिज एजुकेशन कंसल्टेंसी ग्रुप के प्रमुख शिक्षण संस्थानों में से एक है। यह शैक्षणिक संस्थान इंग्लैंड, अफ्रीका, मलेशिया व सिंगापुर के संबद्ध शिक्षण संस्थानों का असेसमेन्ट, एक्रिडिटेशन एवं इवेल्यूशन का कार्य करता है। इस संस्थान का मुख्य कार्यक्षेत्र वोकेशनल ट्रेनिंग में है। इस तरह देव संस्कृति विश्वविद्यालय को इस तरह के कोर्स चलाने एवं नेशनल एक्रिडिटेशन कौंसिल ब्रिटेन की ओर से प्रमाणित करने के क्षेत्र में यह एक महत्त्वपूर्ण समझौता है।

इसी तरह का एक दूसरा समझौता दि लीडरशिप लिमिटेड, ब्रिटेन के साथ हुआ। यह संस्थान इंग्लैंड की शेफिल्ड बेस संस्था है, जो इंग्लैंड प्रशासन, इंग्लैंड के कैम्ब्रिज-ऑक्सफोर्ड, दुबई, अमेरिका एवं आस्ट्रेलिया के प्रमुख विश्वविद्यालयों के लिए लीडरशिप ट्रेनिंग कार्यक्रमों का आयोजन करता है। इस समझौते के द्वारा अब देव संस्कृति विश्वविद्यालय में भी इंग्लैंड के समकक्ष लीडरशिप एवं मैनेजमेन्ट ट्रेनिंग प्रोग्राम चलाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य आरंभ हो सकेगा।

इसके उपरांत प्रतिकुलपति ने अंतरराष्ट्रीय टाइम वेबर कॉन्फ्रेंस में 'वैज्ञानिक अध्यात्मवाद—गायत्री मंत्र का विज्ञान' विषय पर मुख्य उद्‌बोधन दिया तथा म्यूनिख, जर्मनी में भारतीय दूतावास द्वारा आयोजित कार्यक्रम के मुख्य अतिथि के रूप में गायत्री परिवार के विभिन्न कार्यों पर प्रकाश डाला। इसके अलावा जर्मनी में यूरोपियन कॉलेज ऑफ योग एंड साइकोथेरेपी, जेहलेनबर्ग में भी उनका कार्यक्रम हुआ। जर्मनी में ही विश्वविद्यालय का तीसरा एमओयू अंतरराष्ट्रीय वैदिक एकेडमी के साथ हुआ, जिसका उद्‌देश्य पूज्य गुरुदेव के आर्ष साहित्य को यूरोपियन देशों में पहुँचाना है।

इसी क्रम में चौथा एमओयू पोलैंड के सबसे बड़े विश्वविद्यालय 'काज़ीमर्जी वेल्की विश्वविद्यालय' के साथ हुआ। इस विश्वविद्यालय में इस समय ५० हजार विद्यार्थी अध्ययनरत हैं तथा लब्धप्रतिष्ठ निकोलस कॉपरनिकस सेंटर ऑफ एप्लाइड फिजिक्स इसी विश्वविद्यालय में स्थित है। विश्वविद्यालय का पाँचवाँ एमओयू रीगा, लात्विया स्थित यूनिवर्सिटी ऑफ लात्विया के साथ हुआ, जो कि बाल्टिक देशों की सबसे बड़ी यूनिवर्सिटी है। इस एमओयू का उद्‌देश्य लात्विया में भारतीय प्राच्य विद्याओं के अध्ययन हेतु केंद्र की स्थापना करना है, ताकि उन देशों में पूज्य गुरुदेव द्वारा अनूदित ग्रंथों का प्रचार-प्रसार हो सके। विश्वविद्यालय का छठा एमओयू भी म्यूजिक एंड ऑर्ट फाउन्डेशन, लात्विया के साथ हुआ।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय के सहयोग से इन क्षेत्रों में शोधकार्य के नए आयाम विकसित होंगे, ऐसा विज्ञजनों व शिक्षाविदों ने विश्वास व्यक्त किया है। इसी क्रम में एथेंस, ग्रीस में जीवन प्रबंधन एवं वैज्ञानिक अध्यात्मवाद जैसे विषयों पर उनके उद्‌बोधन आयोजित हुए, जिससे यह आशा जन्म लेती है कि देव संस्कृति विश्वविद्यालय अब अंतरराष्ट्रीय स्तर पर चेतना के क्षेत्र में शोध एवं विकासकार्य कर सकेगा।

अंतरराष्ट्रीय संस्थानों के साथ हुए देव संस्कृति विश्वविद्यालय के ये सभी महत्त्वपूर्ण समझौते विश्वविद्यालय के भावी भविष्य के लिए नींव की ईंट के समान सुदृढ़ आधार हैं, जिनके माध्यम से विश्वविद्यालय में महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में प्रगति के साथ-साथ शोध के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किए जा सकेंगे।

युग-परिवर्तन में दृश्यमान भूमिका तो प्रामाणिक प्रतिभाओं की ही रहेगी, पर उसके पीछे अदृश्य सत्ता का असाधारण योगदान रहेगा। कठपुतलियों के दृश्यमान अभिनय के पीछे भी तो बाजीगर की उँगलियों से बँधे हुए तार ही प्रधान भूमिका निभाते हैं। सर्वव्यापी सत्ता निराकार है, पर घटनाक्रम तो दृश्यमान शरीरों द्वारा ही बन पड़ते हैं।

— परमपूज्य गुरुदेव

अपने परिवार की विशिष्ट आत्माओं से विशेष अनुरोध

वसंत प्रेरणा का, अलौकिक-आध्यात्मिक अनुदानों का महापर्व है। वृक्ष, वनस्पति, प्राणी, मनुष्य सभी पर प्रकृति उमंगों की वर्षा करती है। महेश्वर महाकाल, दिव्य ऋषिसत्ताएँ एवं उनकी सक्रियता का ध्रुवकेंद्र देवात्मा हिमालय इस पावन पर्व पर आध्यात्मिक अनुदान बरसाते हैं। जिनके उद्देश्य उच्च हैं, विशिष्ट हैं, ऐसी साधनारत आत्माओं के लिए तो यह महापर्व सब प्रकार से जीवन प्राण ही है। उन पर तो वसंत पर्व ही नहीं, बल्कि संपूर्ण वसंत ऋतु दिव्य लोकों के अमृत से परिपूर्ण अनुदान बरसाने आती है। अपने युग निर्माण मिशन का उद्गम, संचालन, इसका स्वर्णिम अतीत, प्रेरक वर्तमान एवं समुज्ज्वल भविष्य, सब कुछ इसी दिव्य कक्षा से संबद्ध है, यह सुनिश्चित समझा जाना चाहिए। मिशन के प्रत्येक परिजन को अपने दैनिक जीवन में इसे प्रतिपल अनुभव करना चाहिए।

सन् २०१४ ई० का वसंत पर्व सन् २०२६ के साधना शताब्दी वर्ष का प्रारंभ है। ये बारह वर्ष विशिष्ट साधना के हैं। कठिन तपश्चर्या एवं जीवन-साधना के हैं, ऐसा माना जाना चाहिए। अनेकों परिवर्तन इसी अवधि में होने हैं। दिव्यद्रष्टा युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव के आश्वासनों, दिव्य दर्शन को इसी अवधि में प्रकट होना है। जाग्रत आत्माओं को महाकाल का—युगदेवता का विशेष संदेशवाहक बनने के लिए यही विशिष्ट अवधि है। इसमें प्रयत्न भी विशेष किए जाने हैं एवं परीक्षाएँ भी विशेष होनी हैं। यह नवजाग्रति के विशेष उभार का समय है। इन वर्षों में नवयुग की ऊषा अभिनव अरुणोदय के साथ झाँकती देखी जा सकती है। इन सब और ऐसे कई कारणों से यह वसंत अति विशिष्ट है।

परिजन इस तथ्य से सुपरिचित हैं कि युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव की चौबीसवर्षीय गायत्री महापुरश्चरण साधना का शुभारंभ सन् १९२६ की वसंत पंचमी को हुआ था। इसी पावन दिवस पर उनकी साधना का अखण्ड दीपक प्रज्वलित हुआ था। तब से अब तक इसकी अखण्ड ज्योति पहले प्रकाश के रूप में, फिर बाद में सन् १९३९ से पत्रिका के रूप में हम सबके जीवन व मन को प्रकाशित कर रही है। पिछले वर्ष २०१३ में पत्रिका ने अपने ७५ वर्ष पूर्ण किए। इसी क्रम में सन् १९२६ की वसंत पंचमी से २०२६ की वसंत पंचमी की अवधि पूर्ण कर पूज्य गुरुदेव की साधना का अखण्ड दीपक अपने सौ वर्ष पूर्ण करेगा। **इस तरह सन् २०२६ पूज्य गुरुदेव की साधना का शताब्दी वर्ष होगा।** इस आकलन के अनुसार सन् २०१४ की वसंत पंचमी से ठीक बारह वर्ष बाद हम सब इस महत्त्वपूर्ण वर्ष में प्रवेश करेंगे। बारह वर्षों बाद जो सूर्योदय होगा, उसका अरुणोदय २०१४ की इस वसंत पंचमी को हो रहा है।

इस महान अरुणोदय की प्रथम जागरण किरण अपने देव परिवार को इस रूप में हृदयंगम करना चाहिए कि इन दिनों युग-परिवर्तन की पुण्यवेला का विशिष्ट समय है। इक्कीसवीं सदी जिस उज्ज्वल भविष्य को लेकर आई है, उसका समूचा ताना-बाना इन्हीं वर्षों में बुना जाना है। यह समय उथल-पुथल का है। ऐसे समय में ऐसी विशेष परिस्थितियों के लिए विशिष्ट आत्माओं की जरूरत पड़ती है। जो कठिन तप करने में समर्थ हों, जिनकी जीवन-साधना उच्चकोटि की हो। इन्हीं लोगों को देवदूत, युगपुरुष कहा जाता है। युग-परिवर्तन की प्रक्रिया के सूत्रसंचालक महाकाल इन दिनों इन्हीं को खोज रहे हैं। वे अपने समर्थ सूक्ष्मसंरक्षण में बारहवर्षीय तप भी इन्हीं से कराएँगे और श्रेय भी इन्हीं को देंगे। हममें से हर एक को अपनी विशेष स्थिति इन्हीं विशिष्ट आत्माओं में समझनी चाहिए। साथ ही अपने निर्धारित कर्त्तव्यों को पहचानने और अपनाने के लिए जागरूकता का परिचय देना चाहिए।

इस अरुणोदय की दूसरी जागरण किरण हम सब के अंतःकरण में इस रूप में प्रविष्ट होनी चाहिए कि हम विशिष्ट उद्देश्य के लिए, इस विशेष अवतरण के लिए हैं। हमारे जीवन का प्रयोजन भी विशेष है। ऐसे में हमें चूकना बिलकुल भी नहीं है। अपने वर्तमान जन्म एवं जीवन को इसी में लगाना है। यों तो मनुष्य का जीवन ही

भगवान की विशेष धरोहर है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने और इनकी कड़ी परीक्षाओं में गुजरने के बाद यह अवसर मिलता है, लेकिन हम सब जो महाकाल की इस युग-परिवर्तन योजना से जुड़े हैं और पूज्य गुरुदेव के अंग अवयव के रूप में सक्रिय हैं, विशिष्टों में भी अतिविशिष्ट हैं। इस अवसर को पाने से पहले हमारी कड़ी परीक्षाएँ ली गई हैं, तभी महाकाल ने हमें अपनी युग-परिवर्तन योजना में शामिल किया है। ये आगामी बारह वर्ष हम सबके जन्म-जन्मांतरों से चली आ रही तप-साधना की पूर्णता के हैं। ऐसे में हममें से किसी को स्वार्थ, अहंकार, वासना, तृष्णा से किसी भी प्रकार का समझौता न करके अपने कंधों पर आए नवनिर्माण के दायित्व को बिना किसी ना-नुकर के निभाना है।

इस अरुणोदय की तीसरी जागरंण किरण को भीतर प्रवेश करने के लिए हमें अपने मन-अंत:करण के द्वार खोलना चाहिए। यह सच अनुभव करने में हममें से किसी को देर न हो जाए कि महाकाल के साथी-सहचर-साझीदार बनने का आमंत्रण-अवसर हमारे द्वार पर आकर सामने खड़ा है। इसे स्वीकार या अस्वीकार करने का निर्णय इन्हीं घड़ियों में किया जाना है। अनिर्णय की स्थिति देर तक चलने वाली नहीं। इस वसंत पर्व को इसी साझीदारी के विशेष आमंत्रण के रूप में समझा जाना चाहिए। सामान्य मनुष्य के लिए असामान्य साझेदारी सदा ही सौभाग्य को प्रदान करने वाली रही है। दैवी तत्त्वों के साथ साझीदार बनकर कितने ही सामान्य व्यक्ति महात्मा, देवात्मा तक पहुँचकर परमेश्वर के पार्षद होने का गौरव पाते हैं। महामानव एवं सिद्ध पुरुषों की गणना इन्हीं में से होती है। स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि उच्च अनुदानों में याचना नहीं, पात्रता की शर्त रहती है। परमात्मा से याचना करने में नहीं, उसके साथ साझीदार बनने के लिए आवश्यक साहस जुटा लेने में बुद्धिमानी है।

अच्छा हो हम इस वसंत पर्व पर महाकाल के साथ साझीदारी स्थापित करने का साहस जुटाएँ। इसके लिए कुछ नए तथ्य स्वीकार करने होंगे। समझना होगा कि सर्वव्यापी परमात्मा का स्थानीय प्रतिनिधि हमारे भीतर आत्मा के रूप में विद्यमान है। मैं-मैं हर समय चिल्लाने वाला बकरा केवल अहंकारी भर है। यह शरीरगत अहंता आदि से अंत तक हमारे व्यक्तित्व पर छाई है। उसी ने समूचे जीवन पर अपना अधिकार जमा रखा है। चिंतन क्षेत्र में लोभ और मोह के रूप में, वासना, तृष्णा के रूप में सौ प्रतिशत आधिपत्य जमाए हुए है। इसी वजह से आध्यात्मिक जीवन की ओर एक इंच भी आगे बढ़ना संभव नहीं हो पाता। देह की सुविधा से आगे की बात न सोचने देने की विवशता को ही माया कहते हैं। उसी की जकड़न भवबंधन कहलाती है। इसी जटिल पाश में दुर्भाग्यग्रस्त बंदी की तरह जीवात्मा को अनगिनत कष्ट सहने पड़ते हैं। लोक और परलोक बिगाड़ने वाले सारे दुर्भाग्य यमदूतों की तरह इसी स्थिति में कष्ट देते हैं। इन जटिल बंधनों को जिसने जितना ज्यादा ढीला कर लिया वह उतना ही महान प्रज्ञावान है। जो इन बंधनों को पूरी तरह से काट सकने का पराक्रम कर सके, उसी जीवन मुक्त को परम पुरुषार्थी कहा जाता है।

भगवान महाकाल—युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव के साथ साझेदारी का आरंभ यहाँ से होना चाहिए कि हम शरीर की ही भाँति आत्मा के अस्तित्व को, उसकी जरूरतों को, उपलब्धियों को, उसके लाभांश को स्वीकारें। समय, श्रम, मनोयोग, प्रतिभा एवं साधन, ये पाँच ही जीवन की मौलिक क्षमताएँ हैं। इनका जितना लाभ शरीर को, उतना ही आत्मा को देना चाहिए। इसकी शुरुआत कैसी भी हो, लेकिन कोशिश यही होनी चाहिए कि आत्मा परमात्मा का प्रतिनिधि है, उसकी हिस्सेदारी बढ़ती जाए। भक्ति-भावना का, ईश्वरपरायणता का यही स्वरूप है। साझेदारी इसी रूप में निभ सकती है कि साझीदार की बात भी सुनी जाए। उसके हित का भी ध्यान रखा जाए और अपनी ही भाँति उसका लाभांश भी उसे दिया जाए।

परिवार शरीर के साथ जुड़ा हुआ है। जिस परिवार से अपना पालन हुआ, उसका ऋण चुकाना भी जरूरी है। जिस परिवार ने अपने लिए अनेकों सुविधाएँ जुटाईं, उसके पोषण, विकास का ध्यान देना भी अपना कर्त्तव्य है। शरीर-निर्वाह और परिवार-पोषण, ये दोनों काम एक ही श्रेणी में आते हैं। निश्चित यह किया जाना है कि जीवन की क्षमताओं का कितना अंश आत्मा को और कितना शरीर-परिवार को मिलता है। शरीर के साथ यदि अधिक पक्षपात हो तो सोचा यह जा सकता है कि आठ घंटे जीविकोपार्जन के लिए, सात घंटे सोने के लिए और पाँच घंटे परिवार के अन्य कामों के लिए रखे जाएँ। इस तरह कुल २० घंटा समय शरीर-परिवार को तथा बाकी बचा समय ४ घंटा आत्मकल्याण के लिए दिया जाए। इसी अनुपात में अपने श्रम, मनोयोग, समय, प्रतिभा व साधन का विभाजन किया जाना चाहिए।

धन के बारे में भी यही बात है। इस संबंध में इतना तो किया ही जाना चाहिए कि आत्मा व परमात्मा को भी घर का एक सदस्य मान लिया जाए। परिवार के प्रत्येक सदस्य के भोजन, वस्त्र, शिक्षा, चिकित्सा, विवाह, स्वावलंबन व उत्तराधिकार के लिए जितना खरच किया जाता है; उतना ही परमार्थ के लिए, आत्मकल्याण के लिए निर्धारित करने की व्यवस्था की जाए। आत्मा अंश जीवन की क्षमताओं में आधा तो हो ही। इतना संभव न हो सके तो एक संतान के बराबर तो माना ही जाना चाहिए। उसके लिए उस अनुपात में अपनी क्षमताओं का नियोजन किया जाना चाहिए। संक्षेप में आत्मकल्याण व लोकहित में इतना धन तो खरच किया ही जाना चाहिए, जितना कि हम अपनी एक संतान के लिए खरच करने की सोचते हैं।

परमार्थ-आत्मकल्याण को युग-साधना के रूप में परमपूज्य गुरुदेव द्वारा प्रारंभ किया गया ज्ञानयज्ञ सर्वोपरि है। इन दिनों महाकाल की अपने साथी-सहचरों से पुकार भी इसी के लिए है। इसमें आत्महित व लोकहित, दोनों ही समाविष्ट हैं। साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा की चतुर्विध जीवन-साधना में आत्मनिर्माण और समाज निर्माण का उचित समन्वय है। इसलिए आत्मा के, परमात्मा के हिस्से की जीवन क्षमताएँ इसी पुण्यकार्य में नियोजित होनी चाहिए। इस संदर्भ में अपने परिजन प्रारंभ से ही परिचित हैं। इस वसंत पर्व से उन्हें न केवल अपना अंशदान-समयदान बढ़ाना चाहिए, बल्कि अन्यों को भी ऐसा करने के लिए प्रेरित करना चाहिए। महाकाल के साथ साझेदारी की ईमानदारी का परिचय इसी रूप में दिया जा सकता है। इस वसंत पर्व की प्रेरणा परमपूज्य गुरुदेव की दिव्य सत्ता के साथ साझेदारी आरंभ करने के लिए विशेष रूप से है।

इस साझेदारी में हानि की कोई संभावना नहीं है। इसमें लाभ ही लाभ है। परमपूज्य गुरुदेव-वंदनीया माताजी ने अपने सारे जीवन यही नीति अपनाई और लाभान्वित हुए। आज बारी हम सबकी है, जो उनसे प्रेरणा ग्रहण करते और साधना का समुचित लाभ उठाने के इच्छुक हैं, उन्हें इस अवसर को गँवाना नहीं चाहिए। भरपूर अंशदान व समयदान का साहस जुटाना चाहिए। बड़ी उपलब्धियों के लिए उदात्त चिंतन, विवेकपूर्ण निर्धारण और सत्साहस की जरूरत पड़ती है। सन् २०१४ का यह वसंत पर्व इसी शर्त पर महेश्वर महाकाल के साथ साझेदारी करने और जीवन में प्रचुर मात्रा में लौकिक व आध्यात्मिक अनुदान पाने का संदेश, अनुरोध, आग्रह लेकर उपस्थित हुआ है। इसे स्वीकार करने में ही समझदारी है।

बारहवर्षीय जीवन-साधना के बारह साधना सूत्र

इस विशिष्ट वसंत पर्व पर जिन्हें कुछ आंतरिक प्रकाश सचमुच ही उपलब्ध हो अथवा जिन्हें इसकी जिज्ञासा व आकांक्षा हो, उन्हें अपनी गतिविधियों में कुछ तो परिवर्तन करना ही चाहिए। इसके लिए उन्हें इन बताए जा रहे साधना सूत्रों को अपना लेना चाहिए। इन बारह सूत्रों को द्वादश आदित्य की तरह से समझा जाए। इनसे हमारे जीवन का पवित्र, प्रखर, प्रतिभावान व प्रज्ञावान बनना सुनिश्चित है। इन पंक्तियों के माध्यम से यह आशा, अपेक्षा व विश्वास जताया जा रहा है कि अपने परिजन इन्हें सच्चे रूप से अपनाकर परमपूज्य गुरुदेव के साधना शताब्दी वर्ष की बारहवर्षीय साधना के सच्चे व संपूर्ण साधक बनेंगे।

(१) उपासना को भोजन, शयन जैसे नित्यकर्मों में सम्मिलित रखा जाए। इसकी किसी भी तरह उपेक्षा न हो। निर्धारण भले ही अपनी स्थिति के अनुसार कम या ज्यादा हो, पर जो भी हो उसका पालन दृढ़तापूर्वक होना चाहिए। उपासना नहीं, तो भोजन व शयन भी नहीं, ऐसा व्रत लिया जाए और उसे सच्चे मन से निभाया जाए।

(२) स्वाध्याय को भी उपासना जैसा ही महत्त्वपूर्ण समझा जाए। आत्मकल्याण की समस्याओं का युग के अनुरूप समाधान प्रस्तुत करने वाला सत्साहित्य ही स्वाध्याय की आवश्यकता पूरी कर सकता है। निश्चित ही इस साहित्य में पिरोए विचारों का अवतरण चेतना की दिव्य कक्षा से हुआ है। इसमें न केवल सम्यक विचार व सम्यक जीवन-दृष्टि है, बल्कि शिष्य को उँगली पकड़कर सन्मार्ग पर चलाने वाला सद्गुरु का समर्थ मार्गदर्शन भी है। आज की स्थिति में सत्संग का श्रेष्ठ व सुगम स्वरूप भी यही है। शिक्षित लोग इसे पढ़ें और अशिक्षित इसे सुनें, साथ ही इसके माध्यम से शिक्षित होने का प्रयास भी करें। जिनके पास अखण्ड ज्योति, युग निर्माण योजना, युग शक्ति गायत्री, प्रज्ञा अभियान आदि मिशन की पत्रिकाएँ आती हैं, उनमें से प्रत्येक परिजन का कर्त्तव्य यह है कि वे अपने परिवार तथा संपर्क क्षेत्र में कम से कम पाँच व्यक्तियों में युग चेतना का प्रकाश फैलाएँ।

(३) प्रातः आँख खुलने पर दिन का नया जन्म व रात्रि को उसका अंत माना जाए। एक दिन के जीवन की श्रेष्ठतम रीति-नीति बनाकर जीवन जीने की उपयुक्त व्यवस्था बनाई जाए। ध्यान रहे इस व्यवस्था को निभाया भी कड़ाई से जाए। रात्रि सोते समय निद्रा को दैनिक मृत्यु माना जाए। संन्यासी, वैरागी, अनासक्त, कर्मयोगी, प्रभुसमर्पित भगवद्भक्त की मनःस्थिति लेकर शयन किया जाए। यह प्रातः का ज्ञानचिंतन-ज्ञानयोग, दिन भर की कर्त्तव्यनिष्ठा-कर्मयोग एवं रात्रि की प्रभुपरायणता-भक्तियोग है। इस जीवन-साधना में तीनों प्रमुख योगाभ्यासों का समन्वय करके पूर्णयोगी का जीवन जिया जाए।

(४) घर में आस्तिकता का वातावरण बनाया जाए। परिवार के प्रत्येक व्यक्ति, यहाँ तक कि बच्चों का संबंध ईश्वर से जोड़ा जाए। घर में उपासना की अनिवार्य व्यवस्था हो। परिवार के सभी सदस्य वहाँ दो मिनट प्रणाम करने के साथ जप, ध्यान संपन्न करके ही भोजन ग्रहण करें। संभव हो तो सामूहिक प्रार्थना, आरती आदि का भी नियमित क्रम हो। चौके में पहली रोटी के पाँच छोटे ग्रास अग्नि में होमकर तब भोजन किया जाए। इस प्रकार भारतीय संस्कृति की माता गायत्री और सनातन धर्म के पिता यज्ञ के साथ किसी न किसी तरह परिवार का संबंध जुड़ा रहेगा।

(५) संयम, साधना, तपश्चर्या का न्यूनतम रूप यह रहे कि साप्ताहिक व्रतशीलता का निर्वाह अनिवार्य रूप से हो। गुरुवार या रविवार में कोई एक दिन नियत रहे। उस दिन उपवास, ब्रह्मचर्य एवं मौन व्रत का किसी न किसी रूप में निर्वाह किया जाए। उपवास, जलाहार, शाकाहार, फलाहार या दूध-छाछ पर रखा जाता है। वैसा संभव न हो तो अस्वाद व्रत नमक व शक्कर रहित भोजन ग्रहण करें। ब्रह्मचर्य का पालन तो हो ही। लगभग दो घंटे मौन का नियम भी रहे। उस समय यथासंभव एकांत के वातावरण में रहकर आत्मपरिष्कार व आत्मविकास के सूत्रों पर चिंतन-मनन करें। इस साप्ताहिक व्रतशीलता के साथ दोनों नवरात्रों के व्रत, २४ हजार गायत्री जप व तप का क्रम भी बनाया जाए। संभव हो तो वर्ष में कम से कम एक अथवा तीन महीने चांद्रायण व्रत करते हुए सवा लक्ष का गायत्री अनुष्ठान संपन्न किया जाए।

(६) अंशदान को तथा समयदान को अनिवार्य माना जाए। जितना अधिक संभव हो, उतना अधिक समय व अधिक धन निकालने का साहस किया जाए। साथ ही परिवार को सुसंस्कारी व स्वावलंबी बनाने को अपना कर्त्तव्य माना जाए, लेकिन उन्हें सुविधासंपन्न बनाने के बजाय संस्कारसंपन्न बनाएँ। परिवार के सदस्यों का साथ में मिलने-बैठने का नियमित क्रम हो। इस नियमित संपर्क के माध्यम से परिवार में १. श्रमशीलता, २. सुव्यवस्था, ३. सादगी-मितव्ययता, ४. शिष्ट सज्जनता, ५. उदारता सहकारिता की सत्प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया जाए। परिवार को सद्गुणों की पाठशाला एवं नररत्नों की खदान बनाना प्रत्येक परिजन का अनिवार्य कर्त्तव्य है।

(७) परिजनों का लक्ष्य यह रहे कि वे पारिवारिक दायित्व से यथाशीघ्र निवृत्त हो वानप्रस्थ परंपरा के लोकसेवी बन सकें। संतानें अधिक न हों। यह एक क्षण के लिए भी न भूला जाए कि शरीर व परिवार के अलावा आत्मसाधना व लोक-साधना भी अपना दायित्व है। स्मरण रखा जाए कि युग-परिवर्तन जैसा कार्य सामूहिक प्रयास से ही संभव है। इसके लिए युग निर्माण मिशन और उसके संगठन का महत्त्व समझा जाए। इस संगठन के केंद्र शांतिकुंज और संगठन के विस्तार रूप प्रत्येक शाखा, शक्तिपीठ के लिए अपने परिजन निरंतर सक्रिय रहें। ध्यान रहे कि शांतिकुंज एक महावृक्ष है और परिवार का प्रत्येक परिजन उसकी शाखा। एक शाखा की न्यूनतम दस टहनी तो होनी ही चाहिए। यानी कि प्रत्येक कर्मठ परिजन के दस सहयोगी तो बनें ही।

(८) इस युग के अनुरूप तीर्थयात्रा का स्वरूप विकसित किया जाए। सत्प्रवृत्तियों के संवर्द्धन के लिए जनसंपर्क एवं परिभ्रमण ही तीर्थयात्रा है। सद्ज्ञान के प्रसार के लिए अकेले या साथियों के साथ निकलने की व्यवस्था की जाए। इसमें कथा-प्रवचन, विचार-विमर्श, शाखा संगठन जैसे कार्य संपन्न किए जाएँ।

(९) व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण और समाज निर्माण के तीनों उद्देश्य पूरे करने के लिए जन्मदिवसोत्सव सबसे छोटा, किंतु कारगर उपाय है। गायत्री हवन, आशीर्वाद, अभिवादन, दुर्गुणों में से एक का परित्याग और सद्गुणों में से एक का अभिवर्द्धन, साथ में संक्षिप्त उद्बोधन के द्वारा यह प्रक्रिया पूरी की जा सकती है। साथ ही मिशन के प्रकाश का वितरण भी किया जा सकता है।

(१०) जनमानस के परिष्कार के लिए वाणी व लेखनी, दोनों माध्यमों का प्रयोग किया जाए। वाणी माध्यम के

लिए गोष्ठियाँ व सम्मेलन उपयुक्त है। लेखनी माध्यम के लिए युगसाहित्य को परिस्थितयों के अनुरूप सामयिक बनाकर स्थानीय समाचारपत्रों में प्रकाशित करने की व्यवस्था की जाए। संभव हो तो विचारशील परिजन स्वयं भी लेखनी के साधक बनें।

(११) परिवार निर्माण के लिए जिस तरह षोडश संस्कारों का महत्त्व है, उसी तरह समाज निर्माण के लिए पर्व-त्योहारों का। अपने परिजन स्थानीय स्तर पर शाखा-शक्तिपीठ का १. वार्षिकोत्सव, २. आश्विन नवरात्र, चैत्र नवरात्र साधना-सत्र, ३. वसंत पर्व, ४. गायत्री जयंती एवं ५. गुरु पूर्णिमा—ये पाँच आयोजन अवश्य करें। साप्ताहिक व मासिक सत्संग की व्यवस्था भी जुटाई जा सकती है।

(१२) झोला पुस्तकालय व चल पुस्तकालय तो परिजन चला ही रहे हैं। इन्हें अधिक गतिशील करने के साथ स्थानीय स्तर पर पुस्तकालय और साहित्य बिक्री केंद्र की भी व्यवस्था की जाए। समर्थ शाखाएँ व शक्तिपीठें यह कार्य संपन्न कर सकती हैं। इसी के साथ समर्थ शाखाएँ व शक्तिपीठें अपने स्तर पर सेवा प्रकल्प भी चलाने का प्रयास करें, क्योंकि जनसेवा ही जनसहयोग प्राप्त करने का माध्यम है। विस्तार जितना होगा, प्रकाश भी उतना ही प्रसारित होगा। प्रत्येक परिजन व प्रत्येक शाखा इसकी पूर्ति के लिए प्राणपण से प्रयास करें।

यह सन् २०१४ का न्यूनतम चिंतनपरक व कार्यक्रमपरक निर्धारण है। इस पर हर दिन विचार किया जाए। व्यक्तिगत रूप से व सामूहिक रूप से सोचते रहा जाए कि इनमें से किस प्रयोजन को, किस प्रकार, कितनी मात्रा में क्रियान्वित किया जा सकता है। इस वसंत पंचमी के दिन सभी मिलकर इस बारहवर्षीय, बारहसूत्रीय कार्यक्रम पर विचार करें और उसे उत्साहपूर्वक अपनाएँ। यही अपनों से सामयिक आग्रह व अनुरोध है, जिसे प्रत्येक परिजन व प्रत्येक शाखा-संगठन से अपनाए जाने का विश्वास किया गया है।

युवक कुलभूषण पाठक ने एम०ए० पास किया तो उसके पास अच्छी नौकरियों के प्रस्ताव आने लगे। उन दिनों बहुत ज्यादा व्यक्ति इतनी उच्च शिक्षा ग्रहण नहीं करते थे। उसके ही शहर के पं० नीलांबर शास्त्री उसके लिए अपनी पुत्री का विवाह-प्रस्ताव लेकर आए। कुलभूषण के पिता ने उनसे अत्यधिक दहेज की माँग की। परंतु कुलभूषण नैष्ठिक व्यक्तित्व के मालिक थे, उन्होंने अपने पिता से इस कुप्रथा का विरोध किया। उनके पिता क्रुद्ध होकर बोले—"हमने तुम्हारी शिक्षा पर बहुत खरच किया है, क्या तुम्हारे पर हमारा कोई अधिकार नहीं।" यह सुनकर कुलभूषण चुप हो गए, पर उनके अंतर्मन ने पिता का यह व्यवहार स्वीकार नहीं किया।

शास्त्री जी ने जैसे-तैसे दहेज की व्यवस्था कर पुत्री का विवाह कुलभूषण से कर दिया। विवाह के पश्चात जब बरात विदा होने लगी तो कुलभूषण ने वहाँ से जाने से इनकार कर दिया और अपने पिता से बोले—"इतना दहेज पा लेने के बाद आपका मुझ पर अधिकार नहीं, अब मैं शास्त्री जी का ऋणी हूँ। यहीं रहकर कमाऊँगा और इस ऋण को चुकता करूँगा।" उत्तर देने के लिए अब उसके पिता के पास शब्द नहीं थे। यदि सभी युवक दहेज न लेने के संकल्प पर अडिग हो जाएँ तो दहेज नामक असुर का अंत समाज से तुरंत हो जाए।

वासंती निर्माण

पतझड़ बहुत हो चुका अब तक, अरे! विश्व-उद्यान में।
किंतु स्वयं 'ऋतुराज' जुटे अब, वासंती निर्माण में॥
हाँ ! जहरीली हवा घृणा की, बेशक ही मगरूर थी।
स्नेह और समता का उपवन, झुलसाने को क्रूर थी॥
मानवीय उपवन पर उसने, मनमाना विषवमन किया।
संवेदन के रस को उसने, मानव-मन से सुखा दिया॥
लेकिन अब रसधार वसंती, मचल रही युगप्राण में।
आज स्वयं 'ऋतुराज' जुटे अब, वासंती निर्माण में॥
स्नेह और समता की सरसों, फूली मन के आँगन में।
संवेदन रस छलक रहा है, भावों के वृंदावन में॥
उमड़ रहा उत्साह वसंती, प्राणों में जनमानस के।
और उमंगें उछल रही हैं, फूट रहे झरने रस के॥
'भाव-संपदा' मनोभूमि के खेतों में, खलियान में।
आज स्वयं 'ऋतुराज' जुटे अब, वासंती निर्माण में॥
नई प्रेरणाओं के पल्लव, लहराते जनमानस में।
नए-नए संकल्प उठ रहे हैं, अब तो मानव-मन में॥
सत्प्रवृत्तियों की कलियाँ अब, अनायास ही महक रहीं।
सद्भावों के सुमन खिल रहे, कुंठाएँ अब चहक रहीं॥
वासंती उभार आया है, युग कोकिल के गान में।
आज स्वयं 'ऋतुराज' जुटे अब, वासंती निर्माण में॥
वासंती भावों से वंचित नहीं रहें, युगसेनानी।
वासंती इतिहास बन रहा, पिछड़ न जाएँ बलिदानी॥
दिशा-दिशा से गूँज रहा अब, वासंती संदेश है।
स्वर्ग धरा पर उतर रहा, पहिने वासंती वेश है॥
वासंती संकल्प जुटें अब, नवयुग के आह्वान में।
आज स्वयं 'ऋतुराज' जुटे अब, वासंती निर्माण में॥

— मंगल विजय 'विजयवर्गीय'